सिद्धयोग

फरवरी १९९१

संस्थापक सम्पादक
योगेश्वरोपाध्याय अनन्तश्री
विभूषित जी महाराज

तस्मात्सर्वेषुकालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।
– भगवद्गीता ८.२७

वर्ष: २४

अंक : ११

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
संवाई, आगरा

संपादक-मुद्रक-प्रकाशक
देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'

प्रकाशन-स्थल
श्री सिद्धगुफा योग-
प्रशिक्षण केन्द्र
सबांई, आमरा

卐

फरवरी
१९९२

इस अंक में पढ़िए

लेख		पृष्ठ
★ यस्य देवे परा भक्तिः (प्रार्थना)	....	१
★ योगी का आहार (विशेष लेख)	....	२
—ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज		
★ श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् (सम्पादकीय)	....	४
★ स्वर विज्ञान और मेरा अनुभव	....	७
—स्वामी श्री निर्गुणानन्दजी		
★ सद्गुरु और सद्शिष्य के समन्वित रूप— हमारे सद्गुरु !	....	९
—ब्र० श्री ओमप्रकाश पालीवाल		
★ देवासुर-संग्राम —श्री जितेन्द्र वर्णी	....	१६
★ मानस-नीति-दर्पण	....	१७
—संग्रहकर्ता : श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा		
★ जानु-प्रसार	....	१९
—ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज		
★ धारणा के परिपक्व न होने में— दुर्बलतायें ही मुख्य बाधक	....	२१
—श्री जयनारायनराय, बी. एम. एस., एम. ए., शास्त्री		
★ स्वास्थ्य महिमा (कविता)	....	२४
—पं० शिवकुमार वैद्य शास्त्री		
★ जिज्जड़-भेदन	....	२५
—डा० गयाप्रसाद शर्मा		
★ परीक्षा	....	२७
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास		
★ शक्तिप्रतीक—अवतार, गुरु और सिद्धपुरुष	....	३३
—स्वामी श्री सारदानन्द		
★ सैर कर दुनिया की गाफिल	....	३८
—श्री कृष्णदत्त भट्ट		

एक प्रति ५ रु०, वार्षिक मूल्य ४५ रु० ।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एतमादपुर) आगरा

वर्ष २४	ज्ञाप्य ज्ञाता यदि परमं ब्रह्म बुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः । तत्प्राप्त्यर्थाद् महमिदं योगशास्त्रोपदेशाद्, कल्याणानां महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥	फरवरी
अङ्क ११		१९९२

—: यस्य देवे परा भक्तिः

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

—(श्वेताश्वतर उपनिषद् ६/२३

अर्थात्

गुरु में मनुष्य-बुद्धि रखने से कभी ज्ञानलाभ नहीं होता । हे भारत ! तुम जब तक श्री रु की मूर्ति में शक्तिपूजा करते रहोगे तब तक संसार में ऐसा कौन है जो तुम्हारे जातीय जीवन या शक्ति का नाश कर सके ! गुरु के बल से बलवान् होकर तथा गुरुरूपी ध्रुवतारे के प्रति दृष्टि निबद्ध करके तुम अपने गन्तव्य मार्ग में अग्रसर होते चलो ।

और हे नित्यमुक्त आत्माराम गुरु ! तुम हमारे ज्ञान नेत्रों को सम्यक् प्रस्फुटित करो । तुम्हें बारम्बार प्रणाम करता हूँ । तुम्हारी कृपा से प्रत्येक भारतीय व्यक्ति नवीन आध्यात्मिक जीवन के दिव्य भावों से अमित तेज प्राप्त करके सम्यक् उद्बुद्ध हो और श्रद्धा के साथ तुम्हारी पूजा करके देश के कल्याण के लिए अपने क्षुद्र स्वार्थ का बलिदान देने में समर्थ हो । हे प्रभो, गुरुरूपिन् ! तुम आने पदाश्रित भारत में इस नवयुग में नवशक्ति का संचार करो, जिससे यहाँ के निवासी तुम्हारी जीवन्त श्रीमूर्ति की पूजा का प्रचार कर चिरकृतार्थ हो सकें और दूसरों को भी वैसा बना सकें ।

विशेष लेख :-

ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का एक उपदेशांश

योगी का आहार

एक शिष्य ने एक दिन गुरुदेव से पूछा—हे प्रभु ! आपके पवित्र व्याख्यान को सुनकर मेरे मन में बहुत प्रसन्नता हुई है। योगासनों से जो-जो अनुपम लाभ हो सकते हैं उनको मैं भली प्रकार से समझ गया हूँ। यह अब आप कृपा करके समझा दीजिए कि नैतिक यौगिक व्यायाम करने वाले एवं योगाभ्यास करने वाले योगियों का आहार-विहार कैसा होना चाहिए ? और आहार में शुद्धता का क्या महत्व है ?

प्रभुजी ने कहा—हे पुत्र सुनो ! तुम्हारा प्रश्न बिल्कुल ठीक है, आहार शुद्धि अवश्य होनी चाहिए। हमारे शास्त्र कहते हैं कि :

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौध्रुवास्मृतिः।

अर्थात् आहार शुद्धि होने पर सतोगुण का विकास होता है और सत्वशुद्धि होने से ध्रुव स्मृति प्राप्त होती है। सत्वशुद्धि ही समाधि की दात्री होती है। जिस प्रकार से योगानुष्ठान आसन प्राणायाम आदि करने से क्रमशः विवेक-ख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती चली जाती है। उसी प्रकार जिस मनुष्य का आहार-विहार पूर्णरूपेण संयमित होता है, और जो योगी अपने आहार को बिल्कुल शुद्ध, सात्विक बना लेता है उसके शरीर में स्वभावतः दिव्य गुणों का प्रकाश हो जाया करता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता के सत्रहवें अध्याय में तीन प्रकार के आहारों का वर्णन किया है और यह आहार सत्व प्रधान प्राणियों को, रज प्रधान प्राणियों एवं तमोगुण प्रधान प्राणियों को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होते हैं। यथा :

सतोगुण प्रधान मनुष्यों को—

आयुः सत्ववलारोग्य सुखप्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्याआहाराः सात्विक प्रियाः॥

अर्थात् आयु वृद्धि करने वाले, सत्व वृद्धि करने वाले, बल को बढ़ाने वाले, आरोग्यता देने वाले, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले, रसीले, चिकने, जिनकी शक्ति कायम रहने वाली होती है, तथा जो हृदय की पुष्टि करने वाले अर्थात् जो स्वभाव से ही रुचिकर हों सात्विक कहलाते हैं और ये सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को ही अच्छे लगते हैं।

जिन आहारों का लक्षण जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने

ऊपर के श्लोक में दिया है वे सारे के सारे गुण गो-घृत, दूध, मक्खन, मलाई आदि पेय पदार्थ गेहूँ, चना, जौ या रसीले सेब, सन्तरा, अंजीर और मौसम्मी आदि फलों—घीया, बथुआ तोरई, चौलाई, पालक, मैथी आदि सब्जी के साग और पवित्र कन्दमूलों के आहार सभी सात्विक आहार कहे गये हैं, इनके सेवन करने से मन में सतोगुण का विकास होता है, बुद्धि पवित्र बनी रहती है। सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को स्वभावतः यही प्यारे भी लगते हैं। रजोगुण प्रधान मनुष्यों का—

कट्वम्ललवणात्युष्ण-
तीक्ष्ण रुक्ष विदाहिनः।
आहार राजसस्येष्टा
दुःख शोकामय प्रदाः॥

अर्थात् कड़वे, कसैले आदि खट्टे आम की खटाई तथा ज्यादा नमक वाले, अत्यन्त गर्म जिनमें बहुत अधिक मिर्च पड़ी हों और रूखे व खुश्क तेज मिर्चों के पकौड़े आदि और इसी प्रकार के जो शरीर में दर्द देने वाले, गर्मी पैदा करने वाले, दुःख और चिन्ता को पैदा करने वाले पदार्थ रजोगुण को बढ़ाने वाले होते हैं, जो रजोगुण प्रधान व्यक्ति हैं उन्हें ही ये सब प्रिय होते हैं।

तमोगुण प्रधान मनुष्यों का—

यातयाम गतरसं पूति
पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं
भोजन तामस प्रियम्॥

अर्थात् रस रहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट एवं दूषित भोजन तमोगुण को बढ़ाने वाला है, ऐसा आहार तामसी व्यक्ति को ही वह प्रिय होता है। जैसे पहले दिन बने हुए जिन पर से रात उतर चुकी है वे गतरस हो जाते हैं, ऐसे भोजन तमोगुण प्रधान होते हैं। जितने जिस-जिस स्वभाव के व्यक्ति संसारमें रहते हैं उनको उसी प्रकार का खान-पान, रहन-सहन प्रिय हुआ करता है। योगीके लिए सात्विक बन जाना बहुत आवश्यक है, जब तक उसके अन्दर सतोगुण की वृद्धि नहीं होती तब तक वह परम लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। इनके साथ-साथ इस बात का और ख्याल रखना आवश्यक है कि मन की शक्ति सब आहारों में परिवर्तन ला देती है। जैसे दूध, घी, फल, कन्दमूल, साग-सब्जी ये सब सात्विक हैं, किन्तु कोई पाप कमाई करने वाला ऐसे आहार खिलाता है तो उनमें उसके मन का असर भी रहा करता है। अतः ऐसे अशुद्ध साधनों से उपार्जित अन्न के आहार से भी योगियों को सदा बचना चाहिए।

● भूतकाल में हमारे समाज की रचना और विकास हुआ था सेवा के आधार पर, लाभ और लोभ के आधार पर नहीं। हम अपनी कृत्रिम आवश्यकता बढ़ाते जायें, तब तो इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि जितना लाभ हम दुनिया से और समाजसे खींचसकें, खींचना चाहिए। लेकिन यह दृष्टि कोण दुनियादार का हो हो सकता है। यह भौतिकतावादी भी अल्पदृष्टि है। अगर हम भौतिक जीवन का मान बढ़ाते जायें, तो हमारे लोकतंत्रमें भी यही बढ़ता जायेगा। जब यह संघर्ष आर्थिक युद्धों की शक्ल में प्रकट होता है, तब उसमें यही चीज प्रतिबिंबित होती है। भारतीय लोकतंत्र में सेवा के आदर्श की जो प्रतिष्ठा है, उसमें से युद्ध कभी आ ही नहीं सकता। यही कारण है कि गाँधीवादी आर्थिक कार्यक्रम में, आत्मसंयम, त्याग और आत्मशासन तथा समाज की सेवा पर इतना जोर दिया जाता है, भोग पर नहीं।

—आचार्य विनोबा

सम्पादकीय :-

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्

स्वयं भगवदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को निमित्त बनाकर मानव-मात्र को उसके कल्याण के लिए अपना यह अविनाशी सन्देश दिया है कि इस जगत में यदि कोई सर्वोत्तम तत्व है तो वह है ज्ञान। संसार में ज्ञान के समान अन्य कुछ भी श्रेष्ठ और पवित्र नहीं है। 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते।' ऐसा भगवान का अपना कथन है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय चार के श्लोक संख्या ३३ में भी उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ।

अर्थात्, हे पार्थ सभी कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में हो जाता है। इसलिए द्रव्य यज्ञ से 'ज्ञान यज्ञ' श्रेष्ठ है। इस ज्ञान को पाकर फिर यहाँ और कुछ भी जानना या पाना शेष नहीं रह जाता। जैसे ईंधन के ढेर को अग्नि क्षणमात्र में जलाकर भस्म कर डालती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सभी उन प्राकृत कर्मों और उनके फलों को भस्म कर डालती है जिनसे कि प्राणी जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा करता है।

कैसे प्राप्त हो यह कल्याणकारी ज्ञान ? यह भी भगवान ने अर्जुन को इसी प्रसंग में श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में ही बताया है। वे कह रहे हैं श्लोक संख्या ३९ में :

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

अर्थात्, तत्काल परम शान्ति को प्राप्त करा देने वाले ज्ञान को वे निश्चित रूप से पा लिया करते जो संयतेन्द्रिय, श्रद्धावान् और ज्ञान-परायण बने रहने का सतत् प्रयास करते हैं।

प्रतिकूल इसके जो सद्शास्त्रों, इष्ट और गुरु के प्रति संशयशील एवं अश्रद्धालु बने रहते हैं वे शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाया करते हैं। 'संशयात्मा विनश्यति।' यानी संशयशील मनुष्य न तो इस लोक में और न परलोक में सुख-शान्ति के भागी बनते हैं निश्चित रूप से वे नष्ट हो जाते हैं। इसलिए हे पार्थ तू श्रद्धावान बनकर हृदय में अज्ञान से उत्पन्न संशय का ज्ञान रूपी शस्त्र से छेदन करने के लिए 'योगस्थ' होकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जा।

कुरुक्षेत्र में हुए भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के उपरोक्त कथोपकथन में यह सत्य बहुत स्पष्टता से उजागर होकर सामने आया है कि ज्ञान इस धरती पर सबसे पवित्रतम् तत्व है। जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार-भोगों का क्षय ज्ञानार्जन द्वारा ही हुआ करता है तथा इस संसार रूपी दुरूह वैतरणी को ज्ञान रूपी तरणी में बैठकर ही आसानी से बिना किसी बाधा के पार किया जा सकता। यथा—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ —गीता

अर्थात्, यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञान रूपी तरणी द्वारा इस दुःख-सागर को अच्छी तरह कुशलता से तर जायगा।

ज्ञान की पवित्रता और श्रेष्ठता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है जिसे स्वयं योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण अपने ही मुखारविन्दु से बता गये हैं।

महान् दुःख और वेदना का विषय तो यही है कि पाप और कष्टों को सहजता से काट देने वाले ज्ञान जैसे सुगम साधन के रहते हुए भी हम संसारी जीव उसका उपयोग करना नहीं चाहते। उल्लूकों और अबाबीलों के समुदाय के समान 'ज्ञान सूर्य' का प्रकाश चारों ओर फैला हुआ जानकर भी हम उसे न देखना चाहते हैं न उसके कुछ सही उपयोग में रुचि रखना चाहते हैं। उल्टे ज्ञान रश्मियों को अपनी ओर आते हुए देखकर हम अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। कुछ ऐसी हमारी बंश परम्परा बन गई है। न हम वेदशास्त्रों के उद्बोधन को सुनना चाहते हैं, न अवतारी पुरुषों और योगियों के चरित्रों के अनुयायी बनने की लालसा रखते हैं। न ऋषियों-मुनियों और महामनीषियों तथा सिद्धयोगियों के दिशाबोधक परामर्शों को पकड़ना चाहते हैं और न आज के लोकनायकों के कल्याणकारी वचनों को आत्मसात करने की इच्छा रखते हैं। क्यों? इसीलिए न कि हम अबाबीलों और उल्लुओं के समुदायों के समान अज्ञान की अंधेरी दिशा में ही निहारने, देखने और दौड़-भाग करने के अधिक अभ्यासी हो गये हैं। मूढ़ता, स्वार्थ अश्रद्धा और प्रमाद के गहरे काले परदे, हमारे बुद्धि पटल पर ऐसे पड़े हुए हैं कि जिनका भेदन करने का साहस तक जुटा पाना हमारे लिए मुमकिन नहीं हो पाता।

क्या इसका मात्र कारण यही तो नहीं है कि 'ज्ञान तत्व' को पाने का जो दिशाबोध भगवान श्रीकृष्ण ने 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः' दिया है, उसे बारबार हम कानों से सुनना तो चाहते हैं पर अपने अमल में उतारना नहीं चाहते। इन्द्रिय, संयम और श्रद्धा जिसका आधार सत्य और तप ही होता है, हमारे क्रियात्मक जीवन से नितान्त अलग हो गये हैं। देश और समाज में आज जो विकृति चारों ओर नजर आ रही है, नैतिक जीवन के सारे मान मूल्य धूल-धूसरित से होकर शून्य में मिलते जा रहे हैं—क्योंकि हम श्रद्धा रहित असंयतेन्द्रिय होकर विलासी और भोग-परायण जीवन व्यतीत करने के अधिक अभ्यस्त हो गये हैं हमारी वाणी

और आचरण दोनों ही अलग-अलग होकर चल रहे हैं। आज यह प्रवृत्ति ही सही रूप में हमारी वर्तमान जीवन दशा का परिचायक बन गई है,

मन में राखें और कछु, वाणी में कछु और।
कर्म करें कछु और ही झूठे तीनों ठौर॥

चाहे केन्द्रिय सभा-सदन हो, चाहे राज्य शासित-सदन, सामाजिक संस्थान हों, या धार्मिक संस्थान सबके ही संचालक-मण्डलों में अधिकांश संचालक और सदस्य हमें उपरोक्त कथन के दायरे में ही समाये हुए नजर आते हैं। इस स्थिति से भारतीय जन-जीवन को उबारने का एकमात्र उपाय है 'योगस्थ कुरु कर्माणि' का सूत्र। और योगस्थ बनने के लिए आवश्यक होगा श्रद्धावान संयतेन्द्रिय जैसा आदर्श जीवन जीना। इसके लिए साधक के सामने भगवती श्रुति के नीचे लिखे उद्बोधक वाक्य सदा सामने रहने चाहिए :

असतो मा सद् गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मांऽमृतं गमय॥

पर, विडम्बना तो यही है कि श्रुति के इतने सुन्दर दिशाबोधक प्रेरक वाक्यों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हम सत् को छोड़कर असत् को अमरता से विमुख होकर मृत्यु और दुःखों के मैदान में, और प्रकाश को छोड़कर अन्धकार के बेहड़ में ही भाग जाना अधिक रुचिकर और श्रेष्ठकर समझते हैं।

कठोपनिषद् के ऋषि के अनुसार ऐसा लगता है कि हम अविद्या और अज्ञान के कारण ही ऐसी दुर्गति को प्राप्त हुए हैं। जब अन्ध मनुष्य को मार्ग दर्शक भी कोई अन्धा ही मिल जाता है तब रास्ता चलने वाला व्यक्ति अभीष्ट स्थान पर कभी पहुँच ही नहीं पाता। वे दोनों ही कटीले झाड़-झंखाड़ भरे गहरे गड्ढों में गिरकर अपना नाश कर लेते हैं, अश्रद्धा अज्ञान और असंयत इन्द्रिय बनकर जब तक हम जीवन की पगडण्डी पर चलने की आदत बनाये रहेंगे, जब तक अपने गुरुदेव और इष्टदेव के वचनों की उपेक्षा और अवमानना करते रहेंगे तब तक हमें कल्याणकारी पवित्रतम ज्ञान रूपी सूर्य की एक किरण भी दिखाई नहीं दे सकती। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि मत भूल जाओ संसार के लोगो तुम इस सत्य को कि—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।

अर्थात्—जिसके मन श्रद्धा समान्वित होते हैं वे ही ज्ञान को पाया करते हैं।

हमारे गुरुदेव अपने प्रवचनों में प्रायः यही कहा करते थे कि साधक के साधना पथ में श्रद्धा सदा माता के समान उसकी रक्षा किया करती है। कभी भी वह उसका पतन नहीं होने देती। कितने खेद का विषय है कि आज गुरुदेव के प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में हमने उनके उपदेश को भुला दिया और हममें से अधिकांश श्रद्धा-माता की गोद से भटक कर अश्रद्धारूपी कुमाता की गोद में खेलने लगे हैं निश्चय ही वह अपने जीवन लक्ष्य से दूर हट गए हैं। देखना है कब गुरुदेव की कृपा से यह सब अपने सही लक्ष्य को पहचान पायेंगे।

—सम्पादक

● स्वामी श्री निर्गुणानन्द जी

स्वर विज्ञान और मेरा अनुभव

[हमारे गुरुदेव भी पुष्प-प्रसाद देते समय प्रतिकूल स्वर को अनुकूलता में बदल लिया करते थे। —सम्पादक]

काया नगर मध्येतु मारुतः क्षिति पालकः।
आदौ चन्द्र सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतर॥
—पवन विजय

प्रति पक्षौ दिनान्याहुः
त्रीणि त्रीणि क्रमोदयात्॥
—शिवस्वरोदय

अर्थात्, शरीर रूपी नगर में प्राण रूपीराजा रहते हैं। शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षों के तीस दिनों, प्राण रूपी राजा, शुभाशुभ फलों को बतलाते रहते हैं। अमावस्या के बाद शुक्ल प्रतिपदा, दोज और तीज के प्रातःकाल, निद्रा से उठने के समय, चन्द्र स्वर बांये नासिका में प्राण चले तो यह शुभ प्रद होता है। चौथी, पंचमी और छटी को सूर्य स्वर हो अर्थात् दायें नासिका में श्वास चले और यह तीन-तीन तिथियों में, एक-एक स्वर, अमावस्या तक एक महीना तक चलाना चाहिए। और एक महीना निरोध रहना चाहिए।

याद रक्खो! दोनों नासिकाओं में दाँयी नासिका सूर्य स्वर और बाँयी नासिका चन्द्र स्वर है। जिस समय, जिस नासिका में, श्वास अधिक या पूरा चले तो समझो वही स्वर चल रहा है। यदि दोनों नासिकाओं में, जिस समय एक समान श्वांस चले तो समझो तीसरा स्वर सुषुम्ना में चल रहा है। प्रायः स्वस्थ शरीर में ही एक-एक स्वर में एक-एक घण्टा, प्राण चलता है। चन्द्र स्वर में चन्द्रमा के स्वभाव और सूर्य स्वर से स्वभावतः प्रकाश, गरमी, निरालस्यादि प्रकट होते हैं।

याद रक्खो! सूर्य या चन्द्र स्वर में कौन सा-कौनसा कार्य करने से, उन कार्यों में सफलता पा सकते हैं। सुनो और स्मरण रखो:

'सूर्य स्वर का फल :—कठिन से कठिन कार्य, वीरता का कार्य इसमें सफल होते है। पठन, पाठन, पैदल चलना, वैरी को दण्ड देना, नौका या गाड़ी में चलना, शास्त्रों का अभ्यास करने में, काष्ठ ईंटें और रत्नादि चीरने में, पशु व पदार्थ विक्रय में, संगीत गाने में, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र बनाने में, हाथी, पर्वत और घोड़े चढ़ने में, व्यायाम, षट्कर्म साधन, औषधि लेपन, मीठे औषधि खाने में, लेख लिखने में, दान देने में, युद्ध, भोग, भोजन, राजदर्शन, स्नान, ये कार्य, इस स्वर में निर्विघ्न सफल होते हैं।

'चन्द्र स्वर का फल :—स्थिर कार्य करने से सफल होते हैं। दूर की यात्रा, नया वस्त्र आभूषण पहनने में, नया या पुराने आश्रम प्रवेश, राजमहल में प्रवेश, तालाब, कुंआ, मन्दिर धर्मशालादि बनाने का प्रारम्भ करने में, चन्द्र स्वर शुभप्रद है। शान्ति कर्म, कड़ुवी दवाई सेवन में, मित्र और मूर्ति स्थापन में चन्द्र स्वर सफल है।

सुषुम्ना का फल :—जब दोनों नासिकाओं

से समान स्वांस चले तो वरदान और यात्रा सफल होते हैं। यह ईश्वर के ध्यान में शुभ-प्रद है, अन्य किसी कार्य करने में शुभप्रद नहीं है।

याद रक्खो! एक-एक स्वर चलने के समय में, पाँचों तत्वों का संचालन होता है। उन पाँचों तत्वों में जलतत्व और पृथ्वी तत्व ही शुभप्रद हैं। अन्य तीनों तत्व अशुभप्रद है। इन तत्वों की पहचान तब होगी, कि जब प्राण के स्वास निश्वासों को अधिक देर तक सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ध्यान से निश्चय लेने में आप तत्पर हों।

नासिका से प्राणवायु यानी स्वांस, भारी चले तो पृथ्वी तत्व है। स्वांस नासिका में ठण्डा चले तो जल तत्व है। स्वांस में गरमी प्रतीत हो तो अग्नि तत्व है। स्वांस नासिका में स्पर्शयुक्त अधिक चले तो वायु तत्व है। थोड़ी और सूक्ष्म रूप से चले तो आकाश तत्व है। यह स्वरों का गुप्त रहस्यमय सूक्ष्म ज्ञान है। इन तत्वों को समझने में देरी और कठिनता स्वाभाविक है। सूर्य और चन्द्र स्वर में कभी-कभी कार्य विफल होते हैं, जबकि स्वर और तत्वों का पहचानने में कमी रहती है।

जिस ओर की नाड़ी चलती हो, उसी ओर वाले लोगों को भी, वार्तालाप करने से वे मित्र हो जाते हैं। जिस ओर का स्वर नहीं चलता हो उसी ओर शत्रुओं को नियुक्त करके, वार्तालाप करने से शत्रु मित्र हो जाते हैं।

सर्दी या पानी में या वर्षा में चले तो, सूर्य स्वर लाभप्रद है। जिस ओर का स्वर चले, उसी ओर के आंख को, उसी ओर के हाथ से, पैर के अंगूठा तक स्पर्श करे, उसी ओर के पैर आगे रखकर चलने से कार्य सफल होता है। चन्द्र स्वर में भूख, प्यास और थकावट कष्टदायक नहीं होते हैं।

सूर्य स्वर में पठन-पाठन, लेखन, स्नान, भोजन, नित्य के सामान्य यातायात, परीक्षा की उत्तीर्णता में भी, मुझे सफलता प्राप्त हुई है।

यात्रा के समय जिस ओर का स्वर चले उसी ओर का पैर पहले आगे रखकर चले। इससे मुझे यह प्रतिफल मिलता रहा, मित्र लाभ हुआ चोर नहीं मिला। चन्द्र स्वर होने से गरमी, लू और धूप में इनका कष्ट प्रतीत नहीं होता है। भोजन के बाद, बायें करवट में सो जाने से सूर्य स्वर चलने के कारण भोजन हजम और वीर्य की रक्षा, होती है। दूषित स्वप्न नहीं आते। सूर्य स्वर में, शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त होती है। मन्त्र या श्लोकों की शीघ्र स्मृति होती है।

तीर्थ यात्रा में, गुरु भाई स्वामी हरिहरानन्द के साथ गिरिनार पर्वत पर सात मील ऊँचाई पर सूर्य स्वर में आसानी से चढ़ गये। दुबारा यात्रा में उसी पर्वत को चढ़ने में कठिनाई और बेहोशी से रास्ते में स्वर अनुकूल न होने पर ठहरना पड़ा।

गुरु भाई व हम दोनों, तिरुपति बालाजी पर्वतारोहण में भी, पानी वर्षा हवा और सर्दी में सूर्य स्वर देखकर ही चले, तो सुरक्षित वहाँ पहुँच गये, सत्कारयुक्त भोजनादि प्राप्त किये। इसी प्रकार हम दोनों ने मंसूरी में पर्वतारोहण किया। ये सब रहस्यमय गुप्त स्वर विज्ञान की महिमा है। इस गोप्यतम स्वर विज्ञान से कार्यों में सफलता, लाभ और विघ्नों को दूर करके विजय प्राप्त हो सकती है। अपने जीवन को, स्वर विज्ञान जानकर सुखमय बना सकते हैं।

● ब्र० श्री ओमप्रकाश गोयलीय

सद्गुरु और सद्शिष्य के समन्वित रूप हमारे सद्गुरुदेव !

सद्गुरु तत्त्व को समझना बहुत ही कठिन है। मोटे तौर पर गुरु तो समक्ष में आता है, लेकिन यहाँ सूक्ष्म में गुरु-तत्त्व समक्ष में नहीं आ पाता। जब हम गुरु तत्त्व की चर्चा करते हैं, तब यह किसी व्यक्ति विशेषको लेकर नहीं की जाती बल्कि बात की जाती है उस पात्र की जिसमें 'गुरुता' प्रभुता उतर आई हो। या बात की जाती है, उस व्यक्तित्व की जिसमें स्वयं उस गुरु तत्त्व का, परमात्म तत्त्व का और ब्रह्म तत्त्व का आनन्द समाया हो, और वह तत्त्व उसके व्यक्तित्व से आनन्द और प्रेम के रूप में बहता हो, झरता हो। जिस शिष्य ने अपने जीवन में अपने गुरुदेव से इस 'गुरुता' को पा लिया हो ऐसा शिष्य गुरु हो जाता है।

यह 'गुरु' शब्द बड़ा ही अनूठा है, दुनिया की किसी भाषा में यह शब्द नहीं पाया जाता, केवल शिक्षक शब्द ही संसार की भाषाओं में मिलता है। 'गुरु' शब्द का अर्थ गुरु गीता के अनुसार—

गुणाब्दस्त्वबन्धकारोस्ति,

रु शब्दस्तन्निरोधक: ।

अंधकार निरोधित्वात्

गुरुरित्यभिधीयते ।।

अर्थात्—'गु' शब्द अंधकार रूप है, और 'रु' अंधकार को दूर करने वाला। अंधकार का निवारक होने से ज्ञानदाता, गुरु कहलाता है। गुरु का अर्थ हुआ जिसका अज्ञान पूर्णतया नष्ट होकर परिपूर्ण ज्ञान का आलोक जिसमें समा गया हो। और वैसे आलोक तो हम सबके भीतर भी है, लेकिन गुरु ने उसे पा लिया है और तुम्हें उसे पाना है, यही फर्क है गुरु में और तुम में। गुरु वह है जो यह जान गया है कि क्या है, कौन है मैं। इसे जानते तो तुम भी हो कि "मैं हूँ" गुरु भी जानता है—मैं हूँ। फर्क इतना ही है कि गुरु जानता है कि मैं कौन हूँ? क्या हूँ, और तुम नहीं जानते कि मैं कौन हूँ? होने में फर्क नहीं है आत्मवान् तुम भी हो, गुरु भी है। लेकिन गुरु ने उसे जान लिया है। तुम अपने को शरीर कहते हो कि मैं शरीर हूँ और गुरु अपने को आत्मा कहता है फर्क इतना ही है।

जो स्वयं के प्रति जागरूक है वही तो तुम्हें जगा सकता है। गुरु ने जागकर अपनी जीवन की गुरुता को जान लिया है। जिसने महत्त्व जाना जीवन का, जीवन में जो महत्त्वपूर्ण है उसे महत्त्व दिया, जिसने जीवन की गरिमा, महिमा जानी, जिसने जीवन की गुरुता का अनुभव किया। गुरु का अर्थ ही होता है गुरुता जो भारी, गुरु हुआ जो हलका-फुलका, छिछला, उथला नहीं रहा। जो आत्म-गौरव से भरकर भारी हुआ। वही हुआ गुरु।

जिसकी वाणी में वजन आ गया, प्रभाव आ गया। जिस पर भरोसा किया जा सकता है तथा सत्य को जिसने जाना, जो कहेगा, सत्य ही कहेगा, जो करेगा सत्य ही होगा। जो मनुष्य शरीर में रहते हुए भी अब मनुष्य न रहा भगवान हो गया। पुनः नरसिंह भगवान् का अवतार होता है। जो नर भी है, नारायण भी है और सिंह पशु भी है यानी जो नर रूप में नारायण भी है।

जिसके शरीर का सिरा तो मनुष्यों से जुड़ा है और जिसकी आत्मा परमात्मा से जुड़ी है। शिष्य अपने गुरु की ऐसी गुरुता को पाकर ही गुरु हो जाता है।

तुलसीदास जी के अनुसार—

जे जानहिं तेहि देय जनाई।
जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई॥

अर्थात, जिस प्रकार परमात्मा जिसे अपने विषय में जनाना चाहता है वही परमात्मा को जानने में समर्थ हो पाता है और फिर परमात्मा को जानने वाला परमात्मा को जानकर परमात्मा ही हो जाता है। ठीक इसी प्रकार गुरुदेव भी जिस शिष्य को जितना चाहते हैं वही अपने को जानकर गुरु ही हो जाता है। शिष्य का पूर्ण समर्पण ही गुरुता को प्रकट करता है। शिष्य में अपने गुरु के प्रति जितनी गहरी श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण-भाव होता है उतनी ही उसे सद्गुरु की निकटता उपलब्ध हो जाती है। गुरु शिष्य में जितनी मात्रा में उतरता आता है, शिष्य का अहं ('मैं') उतना ही मिटता जाता है। जब शिष्य का अहं पूर्णरूप से मिट जाता है, तो गुरु तत्त्व उसमें पूर्णरूप से उतर आता है। अपने अहं को पूर्णतः समर्पित करने वाले शिष्य की सद्गुरु हमेशा तलाशमें रहते हैं। वे चाहते रहते हैं मुझे ऐसा सुशिष्य मिले जिसमें मेरा अस्तित्व, व्यक्तित्व उतर सके। इसीलिए सद्गुरु अनेकों शिष्यों से सम्बन्धों के तानेबाने बुनते रहते हैं। अनेक शिष्य सद्गुरु से अपना नाता जोड़ लेते हैं, लेकिन इनमें विरले ही सद्गुरु को पूर्ण समर्पित होने वाले होते हैं। जिस प्रकार पिता पुत्रमें अपने को देखना चाहता है, उसी प्रकार गुरु भी अपने को शिष्य में देखना चाहता है।

जिस तरह पिता चाहता है कि मेरी मृत्यु के बाद मेरी धन-सम्पत्ति को, अथवा मेरे कार्यक्षेत्र को मेरा बेटा सम्भाले, उसे सुचारु रूप से चलाये, उसके कार्य क्षेत्र को आगे बढ़ाये, उसके कारोबार को डुबो न दे। वह पिता का पेशा-धन्धा न करके अन्य कुछ न करने लगे? पिता के नाम को, पिता की कमाई कीर्ति व यश को यदि बेटा अकीर्तिकर करता है, तो इस प्रकार के पुत्रों के कृत्य से पिता की आत्मा को महान् कष्ट होता है।

सद्गुरु भी ठीक ऐसा ही चाहते हैं कि शिष्य उनकी आध्यात्मिक सम्पदा को अपने जीवन में सम्भाले उसको पाकर अन्य जीवात्माओं का आत्म-उत्थान करे उनकी चलाई हुई परम्परा को और आगे चलावे, बढ़ावे, अपने गुरु की परम्परा शृंखला को और मजबूत करे, एवं उस शृंखला में अन्य कड़ियाँ भी जोड़े। सद्गुरुदेवजी ने गुरु शिष्य सम्बन्ध की माला में जो अनेकों शिष्य रूपी दाने पिरोये हैं वे बिखरने न पायें। गुरु रूपी सूत्र के न रहने पर स्वयं सूत्र बनकर उन बिखरे हुए दानों को उसमें पिरोले। शिष्य अपने गुरु में इतना मिट जाय कि शिष्य न रहकर उसके जीवन में गुरु ही गुरु रह जाय। ऐसे ही प्रत्यक्ष मूर्तिमान आध्यात्मिक रूप से

हमारे गुरुदेव ब्रह्मलीन योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज।

अपने गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल में वे इतने मिट गये या लय होगये थे कि श्री प्रभुजी के अलावा उनके जीवन में और कुछ था ही नहीं। बोले तो प्रभुकथा ही बोले प्रभुवर' का ही गुणानुवाद करती थी उनकी वाणी। जो करते थे वह प्रभु कार्य ही होता। मन, वचन और कर्म में श्री प्रभुजी ही मुखरित रहते थे। गुरुदेव स्वयं अपने मुखारविन्द से कहा करते थे कि अपने सद्गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी से दीक्षा लेने के बाद एक दिन मन में तीव्र वैराग्य पैदा हुआ, तब मैंने जंगल में जाकर तीव्र तपश्चर्या करने की योजना बनाई। दूसरे दिन श्री प्रभुजी का पत्र मिला जिसमें श्री प्रभुजी ने मुझे लिखा था—

"प्रिय चन्द्रमोहन! हम तो यहाँ बस्ती में बैठे हैं और तुम जंगल में जाने की सोच रहे हो! मेरी आज्ञा है कि तुम सवाँई ग्राम में जहाँ हमने कुछ दिन निवास करके एक गुफा का निर्माण कराया था वहाँ पहुँच कर तुम हमारे योग प्रचार का कार्य करो।" तुरन्त श्री प्रभुजी के पत्र को पाकर मैं सवाँई आकर उनके योग-प्रचार कार्य को करने लगा। तब से आज तक मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही अपने सद्गुरुदेव की आज्ञा-पालन में लगा दिया।'

हम सब भी इसको भली-भाँति जानते हैं कि हमारे गुरुदेवजी ने अपने गुरुधाम श्री सिद्ध गुफा सवाँई आश्रम की किस प्रकार अनेक परेशानियों व कष्टों को सहन करते हुए इसके विकास में ही जीवन पर्यन्त लगे रहे। गुरुदेव प्रायः कहा करते थे, 'मैं तो उनका एक सिपाही हूँ, कर्त्तव्य करने को जो उनकी आज्ञा थी उसका पालन कर रहा हूँ।"

आज हम सब अपने गुरुदेव से यह प्रेरणा लें कि जिस प्रकार उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को अपने सद्गुरु की सेवा में लगा दिया, और सद्गुरुदेवजी ने जिस प्रकार शिष्य और गुरु की भूमिका का एक साथ निर्वाह किया उसे समझें। एक उत्कृष्ट उदाहरण है हम लोगों के सामने। उन्होंने नर होकर नारायण का, शिष्य होकर पूर्ण गुरु का रूप निभाया। अपने समस्त जीवन में गुरुदेव ने अपने अहं "मैं" का कभी, कहीं भी उपयोग नहीं किया। सब प्रकार की क्षमता होते हुए भी, अपने हर कार्य में इन्होंने अपने सद्गुरुदेव को ही आगे रखा। स्वयं करते-कराते भी अपने कृत्य का सारा श्रेय अपने गुरु को ही दिया। इन्होंने हमेशा समुद्र पीकर भी होंठ सूखे ही दिखाये। स्वयं अमानी रहकर ये मान अपने बच्चों को ही दिया करते थे।

शिष्य को कैसा होना चाहिए और गुरु कैसा होता है इसकी शिक्षा हमें अपने गुरुदेव के जीवन से लेनी चाहिए। इन्होंने अपने गुरु का काम, गुरु का नाम किस प्रकार रोशन किया, उनका यह आचरण, उपदेश, आज्ञा हम सबके लिए मार्ग दर्शक और अनुकरणीय है। सद्शिष्य और सद्गुरु का जैसा अनूठा व्यक्तित्व बहुत कम इन जैसा हमें देखने को मिलता है।

गुरुत्व और शिष्यत्व दोनों की पराकाष्ठा थी उनमें। यह हम सबके लिए तो सद्गुरु थे और इसके साथ ही वे अपने सद्गुरुदेव श्री प्रभुजी के पूर्ण कृपापात्र सद्शिष्य भी थे।

हमें इनके जीवन से यह शिक्षा भी मिलती है कि शिष्य में गुरुता किस प्रकार आती है,

और शिष्य कैसे अपने गुरु में पूर्णतः लय होना शुरू हो जाता है। शिष्य ऐसा तो होना ही चाहिए कि अगर गुरुदेव का नाम रोशन नहीं कर सकता तो कम से कम उनके नाम को डुबा भी तो न पाये। अपने अमर्यादित, अशोभनीय आचरणों से, व्यवहारों से अपने गुरु के नाम की अपकीर्ति तो न होने दे।

अपने सद्गुरु के सान्निध्य में रहने वाले गुरु-भाई बहिनों को तथा गुरु-पूर्णिमा, रामनवमी अथवा विजय-दशमी पर्वों पर आये शिष्य-समूहों को जब गुरुभक्ति में यहाँ तल्लीन देखता तो मुझे इस गुरु-परिवार को देखकर बड़ा हर्ष होता। व्यक्तियों की भाव-विभोरता का एक अजीब-सा उन्माद देखने में आता था। हजारों लाखों की संख्या में अपने गुरु भाई-बहिनों को सद्गुरु चरणों में नत-मस्तक होते हुए, उनकी महिमा का गुणगान करते हुए, भजन-कीर्तन करते, गुरुदेव को आतुरता से, चन्दन, रोली का टीका लगाते, उन्हें माला पहनाते तथा कपूरीदीपक से उनकी आरती उतारते, उनके चरणों की पावनरज लेते हुए तथा 'जय गुरुदेव' का उद्घोष करते हुए देखता तब ऐसा लगता था मानो ये हमारे भाई-बहिन अपनी गुरु-परम्परा को चिरजीवित रखेंगे, आगे बढ़ायेंगे। अनुपम गुरुदेवजी की मौजूदगी में इन सबकी गुरुश्रद्धा, गहरा विश्वास, इतनी प्रगाढ़ भक्ति, इतना ऊँचाभाव, अपने गुरुदेव व गुरुधाम के प्रति सराहनीय था। लेकिन गुरुदेव की ब्रह्मलीनता के बाद आज उन्हीं भाई-बहिनों को देखकर आश्चर्य होता है कि क्या हो गया है इनको। हममें से कोई भी, गोपालानन्द जैसी हरिहरानन्द जैसा, माता द्रौपदी, माता रुक्मणी जैसी क्यों नहीं बन पाया। क्या हो गया कहाँ गया वह गुरुभक्ति का इनका उन्माद। वह जोश क्यों ढीला पड़ गया?

गुरुदेव के सामने तो हम सभी गुरुभक्ति का खूब दम्भ भरते थे। अपने को गुरुभक्ति प्रदर्शन में आगे ही रखते और कहते थे कि हम जैसा दूसरा भक्त है ही नहीं। लेकिन क्या हुआ हमारी उस भक्ति का? एकदम जैसे दिवाला ही निकल गया हो? जरूर हमारे भाव, हमारी पूजा, हमारी श्रद्धा किसी बाहरी सतह तक दिखावे के लिए ही सीमित रही होगी।

हम गुरु-भक्ति के बहाने, कुछ और ही सोचते रहे होंगे। हमने गुरुदेव से अपना सम्बन्ध किसी और ही कारणों से जोड़ा होगा, जरूर हम लोग अपने आपको धोखा देते रहे, अपने आराध्य को झुठलाते रहे होंगे। गुरुदेव को हमने अपने अन्तरमन तक हृदय की गहराई में उतरने ही नहीं दिया होगा। जरूर हमारे समर्पण में कमी रही होगी। जरूर हमने अपने गुरुदेव से दुराव किया होगा, जो महत्त्वपूर्ण था उसे छुपाया होगा। हमारी निष्ठा और विश्वास की जड़ हमारी आत्मा से नहीं निकली होंगी। हमने कभी अपनी क्रियाओं के पीछे गुरुदेव से अपने सम्बन्धों में छिपे उद्देश्य को नहीं परखा होगा, कभी हमने यह जानने का प्रयास नहीं किया होगा कि जो हम कर रहे हैं उसकी सार्थकता कहाँ तक है। हमने कभी नहीं इस बात पर विचार किया होगा कि हमारे गुरुदेव का शरीर रूपी दीपक वृद्ध और जीर्ण होकर अपने किसी शिष्य के नये मजबूत दीपक में रूपान्तरित होने के लिए नवीन दिव्यज्योति में परिवर्तित होने जा रहा है।

गुरुपूर्णिमा रूपी ज्योति पर्व की सार्थकता तो यही थी कि हम उनके तेज अंश को अपने में अपने भीतर उतारते और बनाते एक

शृंखला-प्रकाशित, जलते हुए दीपकों की, जिससे उनके नाम और काम को आगे बढ़ाया जा सकता। हमारे दीपकों की अस्मिता से उनकी कीर्ति और कल्याणकारी योजनायें आगे चल पड़ती पर ऐसा नहीं हुआ ?

आज हम सब एक-दूसरे की तरफ देख रहे हैं कि कोई निकले दूसरा ऐसा करने को। लेकिन दूसरा क्यों हम ही क्यों नहीं ? दूसरा कोई आये न आये हम ही क्यों न आगे चलें अपनी पात्रता इतनी बढ़ावें कि सद्गुरु की दिव्यता सहज में ही हममें उतर आवे। हम उन बुझे हुए दीयों की बात क्यों करें। क्यों न अपना दिया उनकी रोशनी से रोशन कर लिया जाय। पर ऐसा हम करना नहीं चाहते, कर रहे हैं, हम एक-दूसरे की आलोचना और निन्दा। हमने अपने अहं को सद्गुरु के चरणों में समर्पित नहीं किया। अगर किया होता तो सद्गुरु की सुगन्ध आई होती हममें से। हममें तो अपने-अपने में "मैं" की बदबू ही आती दीखती है। ऊपर-ऊपर से हमने उस पर भले ही सद्गुरु के नाम की गन्ध छिड़क डाली हो; आखिर कागज के फूलों में ऊपर से छिड़की खुशबू कब तक टिकेगी ? हमारा अहंकार तो सद्गुरु के चरणों में मिटना ही चाहिए न कि वह बढ़ता और उभरता चल पड़े।

इस संसार रूपी भव-सागर में हर जीव अपने अहं के—'मैं' के भार के कारण ही डूबता है और यह अहं का भार ही हमें ऊपर नहीं उठने देता। संसारमें जहाँ-जहाँ भी टकराव है वहाँ वह अहंकार के ही कारण है। किसी का अहं 'मैं' मेरे अहं से आगे ऊपर न हो जाये ! मैंने पढ़ी थी एक कहानी दस बन्दरों की, 'जो कि एक बड़े ऊँचे लट्ठे से बँधे थे। सभी उस लट्ठे पर चढ़कर ऊँचे बैठने के प्रयत्न में थे। कोई भी किसी दूसरे को ऊपर नहीं चढ़ने दे रहा था। कोई किसी का पैर पकड़ कर नीचे घसीटता था तो कोई किसी की पूँछ पकड़कर ऊपर खींचता था मनोवृत्ति सब बन्दरों की यही थी कि अब मैं नहीं ऊपर जा पा रहा हूँ तो तुम्हीं को क्यों ऊपर जाने दूँ। इसीलिए उनका आपस में संघर्ष था।

सद्गुरु के प्रकाश-पुंज से जुड़कर भी हममें गुरुज्ञान का प्रकाश नहीं आया अज्ञान-अन्धकार बना ही रहा। इसका सीधा-साफ अर्थ है कि हम गुरु से न जुड़कर कहीं और जुड़े रहे होंगे। और जुड़कर भी अपनी पात्रता के अनुसार थोड़ा-नाममात्र को प्रकाश हममें आया भी होगा तो उसे कोई भी फूँक मारकर बुझा देगा। गुरु प्रेम, श्रद्धा व आत्म समर्पण के द्वारा ही शिष्य में आत्मीयता की ज्योति जगती है। जिसने गुरु को अपना तन, मन, धन सभी कुछ पूर्ण रूप से अर्पण किया है; सद्गुरु ऐसे अपने लाड़ले शिष्य को ही अपनी अध्यात्म सम्पदा की वसीयत प्रदान कर देते हैं। और गुरु की अध्यात्म आत्म-शक्ति का विकास जैसे-जैसे जिस शिष्य में होता है वैसे-वैसे ही लोग उसे मान-सम्मान देने लगते हैं। दूसरे मिथ्याचारी दम्भी लोग उसके मान-सम्मान को सहन न कर गुरुभक्ति का नकली जामा पहनकर उसकी निन्दा और अपनी प्रशंसा से लोगों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

प्रायः हर सद्गुरु के कुछ शिष्य वृक्ष की तरह न होकर बेल की तरह होते हैं जो सद्गुरु भी वृक्ष के सहारे ही फलते-फूलते हैं। वे सद्गुरु के न रहने पर सूख जाते हैं। और कुछ शिष्य उस बेल की तरह होते हैं जो गुरु

वृक्ष के जीवन रस को पीकर स्वयं तो हरी भरी हो जाती है लेकिन सद्गुरु रूपी वृक्ष को वह समाप्त कर देती है। ऐसी बेल को बड़ा भारी अपने होने का तथा वृक्षों के ऊपर उसकी चोटी पर चढ़ी होने का अभिमान हो जाता है। निश्चित ऐसी बेल वृक्ष के सूखने पर स्वयं भी सूखकर नष्ट हो जाती है। पर फिर भी कुछ विरले शिष्य रूपी पौधे ऐसे भी होते हैं जो वृक्ष की तरह उस सद्गुरु रूपी वृक्ष के नीचे उसी की छत्रछाया में पलकर, अपने पैरों पर खड़े होते हैं और धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते पूर्ण वृक्ष बन जाते हैं। कुछ शिष्य अपने अतीत के सम्बन्ध सूत्र तोड़कर सद्गुरु को पूर्णतः समर्पित हो जाते हैं, ऐसे शिष्य गुरु आज्ञा से गुरुधाम और गुरु की सेवा आश्रम में रहकर ही करते हैं और कुछ शिष्य, उत्सव के विशेष अवसरों पर शक्ति-शान्ति उपलब्ध करने के लिए वर्ष में तीन-चार बार अपने गुरुधाम व गुरुदेव के पास आते रहते हैं इनके समर्पण का एक छोर सद्गुरु से तो दूसरा सिरा परिवार व संसार से बँधा रहता है। कुछ ऐसे भी शिष्य होते हैं जिनके जीवन के तराजू के पलड़ों में गृहस्थी का भार इतना अधिक होता है कि उनका जीवन-पलड़ा घर की ओर ही झुका रहता है। इनके सिर पर संसार की गृहस्थी का बोझा इतना होता है कि वह उस भार से घर में ही दबे रहते हैं। सद्गुरु के चरणों में आने का सबका एक ही लक्ष्य तो नहीं होता। अधिकांशः भिन्न-भिन्न विचारों, भावों या अभावों को लेकर सद्गुरु के चरणों में आते हैं। हमने अपने को सद्गुरु के चरणों में आये हुए लोगों को भी देखा है कोई तो किसी अपराध में फँसकर उसकी निवृत्ति के लिए आये तो कोई किसी बड़ी आपत्ति-विपत्ति बीमारी के निवारण के लिए आया। कोई पारिवारिक झंझटों से ऊबकर अपने उत्तरदायित्व से भागकर आया, तो कोई धन-सम्पत्ति के अभाव में आया। कुछ मान-सम्मान, प्रतिष्ठा पाने के चक्कर में, कुछ माल-सम्पत्ति हड़पने के चक्कर में। विरले ही लोग ऐसे आये जो केवल भगवान् की प्राप्ति के लिए सद्गुरु के चरणों में आ पड़े। बार-बार समझाने पर भी इनकी समझ में नहीं आ पाता कि आश्रम की सार्थकता इसी में है कि आश्रम के अन्तःवासी आश्रम सेवा में श्रम से कतराने वाले न हों क्योंकि आश्रम शब्द से यदि श्रम शब्द हटा दिया जाये तो आश्रम शब्द का अस्तित्व ही मिट जाता है, और जो जिस प्रधान भाव या अभाव को लेकर आया सद्गुरु के दरबार में उसने येन-केन-प्रकरण अपनी उसी कामना-वासना की पूर्ति पायी व्यक्तिगत स्वार्थ परायण ऐसे ही लोगों के द्वारा गुरु का नाम का धाम बदनाम होता है। ऐसे व्यक्ति किसी भी काम नहीं होते। जो व्यक्ति बिना मार्ग दर्शक (गुरु) के जीवन की राहों में दिशाबोध के अभाव में भटक जाता है वह क्षमा किया जा सकता है, अंधेरे में गिरनेवाला इतना दोषी नहीं होता जितना कि दोषी प्रकाश में गिरने वाला होता है। जो व्यक्ति मार्ग दर्शक पाकर, प्रकाश के होते हुए भी अगर गिरता है तो वह व्यक्ति अक्षम्य अपराधी है। जिसे गुरु रूपी द्वार मिल गया है। फिर भी गुरु द्वारा मिटा गया है अगर वह उस द्वार से नहीं निकल पाता तो वह अभागा ही माना जावेगा। जिसे गुरु रूपी द्वार मिला नहीं वह अगर संसार से निकल न सके तो वह अधिक दोषी नहीं है। जो व्यक्ति गुरु के जगाये जाने पर भी मोह निद्रा से न जागा तो भला वह कब और किसके जगाये जागेगा ?

गुरु पूर्णिमा का दिन गुरु की पूर्णता का प्रतीक है। यह दिन गुरु की पूर्णता की वजह से ही चुना गया है। यह पूरे होने का पूर्ण प्रतीक है। एक दिन तुम निपट अज्ञानी शिष्य होते हो, शिष्य का अर्थ ही होता है सीखने वाला गुरु की दी गई सीख को सीखे ग्रहण करे। गुरु तुम्हें धीरे-धीरे अज्ञान से निकालकर ज्ञान का प्रकाश देता है तब तुम आधे शिष्य और आधे गुरु हो जाते हो, और एक दिन आता है जब तुम्हारा अज्ञान-अन्धकार पूर्णतः समाप्त होकर समस्त शंका, समस्त सन्देह समाप्त होकर पूर्ण श्रद्धा को पूर्ण ज्ञान को उपलब्ध कर लेते हो। शिष्य का पूर्णतः अज्ञान समाप्त होकर पूर्ण का प्रकाश पाकर वह पूर्ण गुरु हो जाता है। चन्द्रमा अमावस्या के अन्धकार से यात्रा करता-करता एक दिन पूर्णिमा तक पहुँच जाता है। पूर्णिमा के दिन चाँद में पूर्ण प्रकाश होता है अन्धकार नाममात्र को नहीं होता यही चाँद के पूर्ण होने का क्रम है। यही मनुष्य के पूर्ण होने की भी कहानी है। देर-अबेर में सभी को एक न एक दिन पूर्ण होना है। यह तुम्हारे ऊपर निर्भर करता है कि तुम पूर्ण होने में कितना समय लगाते हो। हम सभी ही उस पूर्ण परमात्मा के अंश हैं। हम सबके दुःख का मात्र कारण यही है कि हम उस पूर्ण परमात्मा के अंश होकर सम्पूर्ण नहीं हो पा रहे हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में यही खेल चल रहा है। जो जिसका अंश है उस अंश की गति अपने अंशी की ओर स्वाभाविक रूप से होती है। अपने अंशी से मिलने के लिए हर अंश उसकी ओर ज्ञान में अनजान में प्रयत्नवान बना रहता है।

इसलिए हमें सोचना है कि यह हमारा मनुष्य जीवन यूँ ही व्यर्थ में हाथ से न चला जाय। हम भी अपने गुरुदेव जैसे ही अपने जीवन को उनके गुरुदेव के कार्यों में लगाकर सार्थक बनाएँ। हम सभी गुरु भाइयों का यह कर्त्तव्य है कि हम सब गुरु के नाम को रोशन करें। गुरु के काम को आगे बढ़ाये तथा अपने गुरु धाम की सर्वांगीण सेवा करते हुए उसकी सुरक्षा करें। उसे गतिशीलता प्रदान करें।

प्राणी जग के

—श्री रमेश पाठक 'रसिक'

पीड़ा हरण प्रलेप बनो तुम,
पीड़ित सब प्राणी जग के।

घनीभूत उर प्यार जगाकर,
छेदन तिमिर करो भव के ॥१॥

दया दान के, स्रोत बनो तुम,
मानवता के, पोत बनो तुम।

पाप पङ्क कालिमा मिटाकर,
पंकज पुण्य फलें भ्रम के॥
पीड़ा हरण प्रलेप बनो तुम,
पीड़ित सब प्राणी जग के ॥२॥

हिंसा तम का, भेदन कर दो।
लोक-हृदय, मंगल से भर दो॥

सिद्धान्त कर्म-फल प्रतिपादित करें,
बन्धन मुक्त, करो भव के॥
पीड़ा हरण प्रलेप बनो तुम,
पीड़ित सब प्राणी जग के ॥३॥

मनोवृत्ति, करुणा की कर दो।
सुमधुर वाणी, प्रतिमन भर दो॥

उपकारों की सुर सरि बनकर,
मैल मिटा दो तन-मन के॥
पीड़ा हरण प्रलेप बनो तुम,
पीड़ित सब प्राणी जग के ॥४॥

देवासुर-संग्राम

● श्री जिनेन्द्र वर्णी

(१)

प्रभु की अहैतुकी कृपा को प्राप्त करके आइये अब सत्यपुरुषार्थ की साधना के क्षेत्र में प्रवेश करें। परन्तु ठहरिये, आगे बढ़ने से पहले तनिक दूर खड़े रहकर ही इसका एक बार भली प्रकार निरीक्षण कर लें। क्योंकि यह कोई बच्चों का खेल नहीं है, एक विकट जीवन-संघर्ष है, धर्म तथा कर्म का युद्ध है, जीवन का महाभारत है। यह देखिये, उस ओर खड़ा है, स्वार्थपूर्ण कर्म का बेजोड़ ग्यारह अक्षोहिणी दल। कितने बड़े-बड़े सुभट तथा महारथी खड़े अहंकारपूर्वक गरज रहे हैं वहाँ? और इस ओर है प्रेमपूर्ण धर्म की अत्यन्त मृदु छोटी-सी सेना। कैसे आशा कर सकते हो अपनी जीत की? क्या है आपके इस धर्म में साहस, इतने बड़े दल बल से टक्कर लेने?

ठीक है, बाहर से देखने पर निःसन्देह अहंकारपूर्ण अधर्म का पलड़ा भारी ही नहीं, बहुत भारी है, तदपि मुझे विश्वास है कि भले ही प्रारम्भ में मुझे कुछ क्षति उठानी पड़े, परन्तु अन्तिम जीत मेरी ही होगी, क्योंकि मेरे पक्ष में भले ही कुछ न हो तदपि एक ऐसी दिव्य शक्ति मुझे प्राप्त है, जिसके सामने यह विशाल सेना उसी प्रकार उड़ जायेगी, जिस प्रकार आँधी में असंख्य तृणराशि। अधर्म की अहंकारपूर्ण दृष्टि में उसे देखने तक की सामर्थ्य नहीं है। मेरी वह शक्ति है प्रभु की अहैतुकी कृपा। ले चलिये प्रभु! मेरे जीवन-रथ को और खड़ा कर दीजिए उसे इन दोनों दलों के मध्य में, ताकि मैं देख सकूँ कि किसके साथ टक्कर लेनी है मुझे।

जीवन के इस महाभारत को कवियों ने अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से देवासुर-संग्राम के रूप में चित्रित किया है। वेद कथा, उपनिषद और क्या पुराण, सर्वत्र इसका सविस्तार विवेचन किया गया है। वेदों तथा उपनिषदों में इस युद्ध के धर्म-पक्ष को 'देव' और अधर्म-पक्ष को 'असुर' कहा गया है, और पुराणों में पाण्डव तथा कौरव अथवा राम तथा रावण। तात्विक दृष्टि से देखने पर ये दोनों पक्ष वास्तव में कहीं बाहर न होकर हमारे भीतर हैं और इनका पारस्परिक संघर्ष हमारे हृदय में बराबर चलता रहता है। प्रेम क्षमा आदि दैवी भाव सो कहलाते हैं, धर्म, और काम क्रोध लोभ आदि आसुरी भाव अधर्म। प्रभु-कृपा के अभाव में यह समस्त लोक आसुरी भावों के अधीन हुआ देवलोक में प्रवेश नहीं करता और अपने को ही सर्वेसर्वा मानकर गरजता रहता है। परन्तु जिस महाभाग्य को प्रभु की यह अहैतुकी कृपा प्राप्त हो जाती है, वह इन सकल आसुरों को परास्त करके देव-लोक का अधिपति हो जाता है। यही कहलाती है पारमार्थिक साधना, सत्य पुरुषार्थ।

अब तक के इस लम्बे प्रकरण में जिस अहंकार को घृणित-सी दृष्टि से देखा गया है, वही वास्तव में प्रधान अहं है, जिसे कवियों ने ब्रह्मा, प्रजापति अथवा पशुपति कहा है। उसकी चार सन्तानें हैं—देव, असुर, पशु तथा मनुष्य। बुद्धि की चतुर्विध वृत्तियाँ इनकी चार माताएँ हैं। अहं त-जनिता अन्तर्मुखी वृत्ति देवमाता या आदित्यमाता 'अदिति' है, और इदं त-जनिता बहिर्मुखी-वृत्ति दनु-माता 'दिति' है। दोनों की मध्यवर्ती द्वन्द्वात्मिका-वृत्ति मर्त्यप्राणियों की माता मृत्यु है, जिसने इन्द्रियाधीन वैषयिक वृत्ति के द्वारा पशुओं को पैदा किया है और मन के अधीन मनन-वृत्ति के द्वारा मनुष्यों को जन्म दिया है। तात्विक दृष्टि से देखने पर मनुष्य ही स्वयं अपनी चतुर्विध वृत्तियों के प्रताप से बन जाता है—देव, असुर, पशु तथा मनुष्य; और वही सत्पुरुषार्थ के अवलम्बन से बन जाता है पुरुष, प्रभु-निष्ठा के अवलम्बन से प्रभु और सत्य-निष्ठा के अवलम्ब से सत्य।

● संग्रहकर्त्ता—श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा, ग्वालियर

मानस-नीति-दर्पण

(तुलसीकृत रामायण से संग्रहीत)

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

अर्थ—जिसके राज्य में प्रजा दुःखी रहती है, वह राजा अवश्य ही नरक का अधिकारी होता है।

न तरु बांझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत ते हित हानी॥

संसार में वही युवती स्त्री पुत्रवती बनती है जिसका पुत्र श्रीराम का भक्त हो। नहीं तो जो राम से विमुख पुत्र से अपना हित जानती है, वह तो बाँझ ही अच्छी। पशु की भाँति उसका ब्याना (पुत्र प्रसव करना) व्यर्थ ही है।

काहु न कोउ सुख-दुःख कर दाता। निज कृत कर्म भोग फल भ्राता॥

कोई किसी को सुख-दुःख का देने वाला नहीं है। सब अपने ही किये हुए कर्मों का फल भोगते हैं।

जोग बियोग भोग भल मन्दा। हित अनहित मध्यम भ्रम फन्दा॥
जनमु मरनु जहं लगि जग जालू। सम्पत्ति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनुअरु परिवारू। सरगु नरकु जह लगि व्यवहारू॥
देखिय सुनिअ मुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥

संयोग (मिलना), वियोग (बिछुड़ना), भले-बुरे भोग, शत्रु मित्र और उदासीन यह सभी भ्रम के फन्दे हैं। जन्म-मृत्यु, सम्पत्ति-विपत्ति, कर्म और काल—जहाँ तक जगत के जंजाल हैं। धरती, घर, धन, नगर, परिवार, स्वर्ग और नरक आदि जहाँ तक व्यवहार है जो देखने-सुनने और मन के अन्दर विचारने में आते हैं इन सब का मूल मोह (अज्ञान) ही है। परमार्थतः ये नहीं हैं।

दो०—सपने होइ भिखारि नृप, रंकु नाक पति होइ।
जागे लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय सोइ॥

जैसे स्वप्न में राजा भिखारी हो जाय या कंगाल स्वर्ग का स्वामी इन्द्र हो जाय तो जागने पर लाभ या हानि कुछ भी नहीं है। वैसे ही इस दृश्य प्रपंच को हृदय से देखना चाहिए।

असि विचारि नहि कीजिय रोसू। काहहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसां सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥

ऐसा विचार करके क्रोध नहीं करना चाहिए और न किसी को व्यर्थ दोष ही देना चाहिए। सब लोग मोह रूपी रात्रि में सोने वाले हैं और सोते हुए उन्हें अनेकों प्रकार के स्वप्न दिखाई देते हैं।

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥

इस जगतरूपी रात्रि में योगी लोग जागते हैं, जो परमार्थी हैं और प्रपञ्च (मायिक जगत्) से छूटे हुए हैं। जगत् में जीव को जागा हुआ तभी जानना चाहिए जब सम्पूर्ण भोग-विलासों से वैराग्य हो जाय।

दो०—सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहउ मुनि नाथ।
हानि-लाभु जीवनु मरनु, जसु-अपयसु बिधि हाथ॥

अर्थ—मुनि नाथ ने बिलखकर (दुःखी होकर) कहा—हे भरत सुनो, भावी (होनहार) बड़ी बलवान है। हानि-लाभ, जीवन-मरण और यश-अपयश, ये सब विधाता के हाथ है।

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लवलीना॥

सोच उस ब्राह्मण का करना चाहिए जो वेद नहीं जानता, और जो अपना धर्म छोड़कर विषय-भोग में ही लीन रहता है।

सोचिय नृप जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥

उस राजा का सोच करना चाहिए जो नीति नहीं जानता और जिसको प्रजा प्राणों के समान प्यारी है।

सोचिअ बयसु कृपन धनवान। जो न अतिथि सिव भगति सुजान॥
सोचिय शूद्र बिप्र अपमानी। मूखर मान प्रिय ग्यान गुमानी॥

उस वैश्य का सोच करना चाहिए जो धनवान होकर भी कंजूस है और जो अतिथि सत्कार तथा शिवजी की भक्ति करने में कुशल नहीं है। उस शूद्र का सोच करना चाहिए जो ब्राह्मणों का अपमान करने वाला, बहुत बोलने वाला, मान-बड़ाई चाहने वाला और ज्ञान का घमण्ड रखने वाला है।

सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलह प्रिय इच्छाचारी॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहि गुरु आयसु अनुसरई॥

उस स्त्री का सोच करना चाहिए जो पति को छलने वाली, कुटिल, कलहप्रिय और स्वेच्छाचारिणी है। उस ब्रह्मचारी का सोच करना चाहिए जो अपने ब्रह्मचर्य व्रत को छोड़ देता है और गुरु की आज्ञा के अनुसार नहीं चलता।

योगयोगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

पूर्व प्रकाशित से आगे—

जानु-प्रसार

जब मल बड़ी आँत में देर तक भरा रहता है और चिपका रहता है तो उसमें विषाक्त तत्व पैदा हो जाते हैं और उसमें क्षय के कीटाणु पैदा हो जाते हैं। ये कीटाणु रक्त के साथ फेफड़ों में पहुँच जाते हैं और किसी कोने में अड्डा बना लेते हैं। इस तरह तपेदिक का भयंकर रोग कब्ज से ही उत्पन्न होता है।

बवासीर की बीमारी का कारण तो प्रायः कब्ज ही होता है। अधिक समय बैठे रहने की आदत से और व्यायाम न करने से तथा शराब व गर्म भोजन करने से और आँतों में मल का भार इकट्ठा हो जाने से गुदा के भीतर की माँस पेशियाँ बढ़ जाती हैं और उनमें रक्त बढ़ जाता है इससे वहाँ का माँस फूलकर सख्त पड़ जाता है। उसीको बवासीर का मस्सा कहते हैं। जब ये मस्से मल निकलने का दबाव पड़ने से फट जाते हैं और उनसे खून निकलने लगता है तो उसे खूनी बवासीर कहते हैं।

एक बार अमरीका में कई डाक्टरों ने मिलकर लोगों के मलाशय की वास्तविक अवस्था का पता लगाने का विचार किया और बीमार होकर मरने वाले व्यक्तियों की लाशों को चीरकर उनकी परीक्षा करने लगे। उन्होंने एक-एक करके २८४ लाशों को चीर कर देखा। इनमें २५६ व्यक्तियों के मलाशय सड़े हुए मल से भरे थे। किसी-किसी का मलाशय तो मल की अधिकता से फूलकर दुगुना हो गया था कितने ही व्यक्तियों का वर्षों पुराना मल सूखकर पत्थर की तरह कड़ा हो गया था और बड़ी आँत की अगल-बगल में चिपककर जम गया था। जब डाक्टरों ने उस सूखे मल को छुरियों से काट कर निकाला तो दिखाई पड़ा कि उसके भीतर तरह-तरह के कीड़ों ने अपना घर बना रखा है। और उन कीड़ों ने कितने ही लोगों की आँतों को काटकर घायल कर दिया है। उन्हीं घरों में कीड़ों ने अण्डे भी दे रखे थे। यद्यपि वर्षों में ये मल सूखकर इतना कड़ा हुआ था और उनका मलाशय बीसों वर्षों से ऐसी ही कही हुई हालत में था, पर मरने के कुछ समय पहले तक वे खाते थे और अपने को स्वस्थ भी समझते थे। डा० टर्नर ने लिखा है कि आठ आदमियों में से केवल एक की ही बड़ी आँत साफ रहती होगी। शेष लोगों को साधारण रीति से नित्य शौच हो जाता है और उससे वह यह समझ लेते हैं कि हमारा पेट साफ है। पर वास्तविक बात यह होती है कि मलाशय के पूरा भर जाने से उसके नीचे के भाग का मल नीचे खिसक जाता है और मलाशय सदा भरा ही रहता है। इस प्रकार का मनुष्य वर्षों तक पांच फीट लम्बे मल से भरे थैले को पेट के भीतर

रखकर चलता-फिरता और सोता है। लोगों से मिलता-जुलता है। खाता-पीता है और अन्त में दुनिया से कूच कर जाता है।

जब मनुष्य को कब्ज अधिक सताता है और उसे साफ शौच न होने की तकलीफ होती है तब वह पाचक चूर्णों, रेचक औषधियों, जुलाब आदि का लेना उचित समझता है और उनका प्रयोग भी करता है। थोड़े समय तक जब तक शरीर नवीन रहता है और काफी शक्ति रहती है वे ऐसा अनुभव भी करते हैं कि हमको दवाओं से लाभ हो रहा है। पर वह शक्ति वस्तुतः उनके ही शरीर की होती है। जो दवाओं से क्षणिक रूप से उत्तेजित होकर अपना प्रभाव दिखाती है। सच पूछा जाय तो ये औषधियां शरीर के लिए विष तुल्य हैं। जब यह विष पाकस्थली में पहुँचता है तो शरीर के लिए प्रकृति विरुद्ध पदार्थ होनेसे शरीर के अङ्ग उसे शीघ्र बाहर निकालने का प्रयत्न करते हैं। उसके परिणामस्वरूप उन अङ्गों से पाचन रस बड़ी मात्रा में बाहर निकलने लगता है और उसी के साथ औषध बड़ी आँत में एकत्रित मल का कुछ अंश भी बाहर निकाल देती है। किन्तु बार-बार ऐसी दवाओं के सेवन करने से पाकस्थली की शक्ति कमजोर हो जाती है फिर आँतें अपना काम सुचारु रूप से नहीं करतीं और तब औषधियों का भी असर नहीं होता। फिर कहना पड़ता है कि मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।

कब्ज को दूर करने के लिए एनिमा का प्रयोग एक प्रचलित उपाय है, इससे मलाशय की अच्छी सफाई हो जाती है, किन्तु थोड़े पानी का एनीमा होने से पूरे आँत की सफाई नहीं होती क्योंकि वह जल शीकम की नली तक तो पहुँचता ही नहीं। यदि एक दो सेर पानी का एनिमा लिया जाय तो सचमुच पूरी आँतों में पानी पहुँच जाता है और शीकम में पड़े हुए कूड़ा-करकट को भी वहाँ ले जाता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि शीकम में जल पहुँच तो जाता है परन्तु आँतों की कमजोरी से शौच के समय वह बाहर नहीं निकल पाता है, और वहीं सड़ने लगता है। यदि एनीमा या बस्तिक्रिया के बाद उड्डियान बन्ध या नौलीक्रिया करली जाये तो अवश्य पूरे आँत की सफाई हो जाती है और शीकम में भी दबाव पड़ने से उसके अन्दर पड़े हुए विकारी द्रव्य जल के साथ बाहर निकल जाते हैं। अतः जो बस्ति और नौली क्रिया करते रहते हैं, उनके मलाशय हमेशा साफ ही रहते हैं।

जीवन-तत्त्व साधन की तीन क्रियायें पग-चालन, नाभि-चालन और जानु-प्रसार ऐसी प्रचलित हैं कि इनसे बिना किसी बाह्य उपचार के पेट व आँतों की सफाई हो जाती है। पग-चालन तथा नाभि-चालन से आमाशय व आँतों पर बराबर तनाव पड़ता है जिससे उनकी क्रियाशीलता बढ़ जाती है। बार-बार हिलने-डुलने से चिपके हुए मल छूट जाते हैं और वे स्वभाव रूप से बाहर निकल जाते हैं। जानु-प्रसार करने से बड़ी आँतों पर तथा पीठकाड़ी पेशी पर विशेष प्रभाव पड़ता है और उनमें फँसे हुए मल निकल जाते हैं।

जीवन-तत्त्व साधन की इन क्रियाओं का आविष्कार करके महाप्रभु योगेश्वर श्री रामलालजी ने कितना जन-कल्याण कार्य किया है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता जो लोग इन क्रियाओं को करते रहेंगे वे कभी पेट के रोग से पीड़ित नहीं होंगे और शरीर के अन्य रोग दूर हो जाते हैं। ✱

(जीवन-तत्त्व साधन से)

● श्री जयनारायनराय
बी. एस. एस., एम. ए. शास्त्री

धारणा के परिपक्व न होने में निज दुर्बलतायें ही मुख्य बाधक

यह कटु सत्य है कि सद्गुरुदेव के कृपापात्र पुण्यआत्मा व पूर्वजन्म के संस्कारी कुछ ही साधक अन्तरंग योग साधना की भी चरम स्थिति में पहुँच पाते हैं, जबकि अधिकांश साधक सद्गुरुदेव में अटूट श्रद्धा, समर्पण व इच्छा शक्ति रखते हुए भी व्यवहारिक कठिनाइयों तथा निजी दुर्बलताओं के कारण धारणा के प्रारम्भिक सोपान में ही अपने अभ्यास में व्यतिक्रम ला देते हैं। इन्हीं तथ्यों का समावेश यहाँ किया गया है।

धारणा एवं मन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सारा खेल मन का है। इसीलिए भगवान् पतञ्जलि देव ने धारणा को "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" अर्थात् किसी लक्ष्य को योगदर्शन के भाष्यकार व्यासदेवजी ने "नाभि च के, हृदयपुण्डरी के मूर्धि ज्योतिष, नासिकाये, जिह्वाग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्य व विषये, चित्तस्य वृत्ति मात्रेण बन्धं इति धारणा" अर्थात् नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्ध ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र आदि स्थानों पर चित्त की वृत्ति मात्र को एकाग्र करना धारणा बतलाया है। यह धारणा ही योग का प्रथम सोपान है। यहाँ से ही मनुष्य का मन एकाग्र होना प्रारम्भ होता है। धारणा करने से मन की योग्यता बढ़ती है और मन में बल का विकास होता है। इसीलिए मन को बन्धन और मुक्ति का कारण माना गया है।

धारणा को परिपक्व करने के लिए कतिपय आवश्यक निर्देश है। धारणा करने वाले व्यक्ति को फल की इच्छा छोड़कर कर्म करते रहना चाहिए। अभ्यासके परिणाम की शीघ्र आशा न कर वर्षों तक इसे लगातार करते रहना चाहिए। जैसा भगवान् पतञ्जलिदेवजी का आदेश है—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य संस्कार सेवितो दृढभूमि।

सद्गुरुदेव में श्रद्धा, समर्पण व दृढ़ इच्छाशक्ति परम आवश्यक है। तभी प्रदत्त मन्त्र के जाप से धारणा अपनी दृढ़भूमि स्थापित करने में सक्षम होती है। योग-साधना में योग साधक को युक्ताहार-विहार, सन्तुलित जीवनचर्या, नियमानुवर्तिता का पालन करने तथा क्रियाशील रहने का आदेश है। साधक न अधिक भोजन करे और न भूखा रहे अन्यथा इन दोनों ही दशाओं में धारणा स्थिर नहीं रह सकती है। ज्यादा सोने वाले तथा न सोने वाले की मनःस्थिति डावाडोल रहती है। धारणा को सही दिशा में ले चलने के लिए सात्विक भोजन व पेय जैसे घी है। चावल, जौ, साठी चावल, दूध, घी, खाँड,

माखन, मिश्री, शहद, सोंठ, परवल, बथुआ, तुलसी, पुनर्नवा, ग्रहण करना उपयुक्त है। अष्टांग योग के यम, नियम का पालन करते हुए साधक को सिद्ध गुरु के मार्गदर्शन में आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार की योग्यता प्राप्त कर अपने मन्त्र जप के माध्यम से धारणा के सोपान में अग्रसर होना कल्याणकारी होता है, क्योंकि आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार ही धारणा, ध्यान तथा समाधि की दृढ़ नींव को प्रशस्त करते हैं।

धारणा को पुष्ट करने के लिए और आवश्यक दिशा निर्देश दिये गये है किन्तु इसी के साथ चित्त के विक्षेप के विघ्नों से बचना परम आवश्यक है। भगवान् पतंजलिदेव ने योगदर्शन में चित्त को विक्षेप करने वाले नौ प्रकार के विघ्न तथा चार अन्य सहोदर अन्तरायों से अवगत कराया है :

व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति
भ्रान्तिदर्शनालब्ध भूमिकात्वानव
स्थित्वानि चित्तविक्षेपास्ते अन्तरायाः।
दुःख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्व
श्वास प्रश्वासा विक्षेप सहभुवः।

१. व्याधि—वात, पित्त, कफ की न्यूनाधिकता से शारीरिक रोग होना।

२. स्त्यान—मन की सुस्ती।

३. संशय—

४. प्रमाद—योग साधना के उपायों का चिन्तन करना।

५. आलस्य—शरीर की सुस्ती।

६. अविरति—वैराग्य का न होना।

७. भ्रान्ति दर्शन—किसी कारण से अध्यात्म दर्शन तथा साधना मार्ग का ठीक ज्ञान न होना अथवा यह साधन ठीक नहीं है, ऐसा मिथ्या ज्ञान ही भ्रान्ति दर्शन है।

८. अलब्ध भूमिकत्व—साधन करने पर भी साधन की स्थिति का प्राप्त न होना, बीच में मन का वेग रुक जाना अलब्ध भूमिकत्व है।

९. अनवस्थितत्व—योग की भूमि प्राप्त होने पर भी अज्ञान व अविद्यादि के कारण चित्त का स्थिर होना।

१०.—दुःख (क) अध्यात्मिक दुःख जैसे किसी की बीमारी सुनकर दुःखी होना।

(ख) आधिदैविक दुःख—जैसे अग्नि, जल, वायु, आदि प्रकोप के कारण।

(ग) आधिभौतिक दुःख—जैसे साँप काटना, बिच्छू का डंक मारना आदि।

११. दौर्मनस्य—क्षोभ, इच्छा की पूर्ति न होना आदि।

१२. अङ्गमेजयत्व—अङ्गों का हिलना।

१३. श्वास-प्रश्वास विक्षेप।

धारणा के सोपान में आगे बढ़ने के लिए जो आवश्यक अनुसरणीय उपाय बतलाये गये है, ये सभी योग साधक के जीवन में दिनचर्या के रूप में चलते रहते है किन्तु जब साधक को धारणा के प्रारम्भिक समय में ही निजी विवशताओं के कारण व्यवहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तो वह किसी न किसी विक्षेप के विघ्न से ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार निजी दुर्बलताओं के कारण साधक धारणा को परिपक्व करने में सक्षम नहीं हो पाता है। प्रत्येक साधक की विवशतायें निजी तौर पर विभिन्न रूपों में होती हैं।

वस्तुतः अन्तरंग योग की साधना के लिए हर तरह की निश्चिन्तता वांछनीय है। यह सुअवसर पुण्यशाली लोगों को ही उपलब्ध होता है। सैद्धान्तिक पक्ष सुनने और समझने में अच्छा लगता है किन्तु इनका व्यावहारिक

पक्ष उतना ही विषम एवं कठोर होता है। विपरीत स्थितियों से उभरने में साधना पथ में काफी आगे बढ़े एवं असीम श्रद्धान्वित साधक के लिए ही सम्भव होता है।

निजी विवशताओं को व्यवहारिक कठिनाइयों से तात्पर्य यही है कि किसी-किसी साधक के सामने इतने ढेरों कार्य होते हैं जिन्हें ब्रह्ममुहूर्त में ४ बजे से प्रातः ८ बजे तक नित्यकर्म, घरेलू कार्य, भोजन तत्व साधन, प्राणायाम व आरती पूजन तथा स्वाध्याय करते-करते मन्त्रजाप, धारणा व ध्यान के लिए बहुत ही कम समय प्राप्त हो पाता है। जिससे मन की स्थिरता न हो पाने से धारणा परिपक्व नहीं हो पाती है। यदि कोई यह कहे कि रात्रि में इस साधना को पूरा कर लिया जाय तो यह भी उस साधक के लिए १० बजे रात्रि तक व्यस्त कार्यक्रम रहने से सम्भव नहीं हो पाता है। ऐसे थके-मादे व्यक्ति से यह आशा करना कि सुखासन में दो या तीन घण्टे बैठकर धारणा कर ले, व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता है। हाँ, श्वासन में अल्पकाल के लिए मन्त्रजाप सम्भव है। सम्भवतः यही उसके लिए कल्याणकारी हो किन्तु इसी साधक को घरेलू झंझटों या कार्यालय-कार्यों से जब-जब दौड़ा करना पड़ता है, जिसके कारण आसन, प्राणायाम, आरती-पूजा तथा मन्त्र जाप आदि की नियमानुवर्तिता को धक्का लगता है। ऐसी दशा में साधक व्याधि, स्त्यान, आलस्य, प्रमाद आदि विक्षेप के विघ्नों का शिकार होता है। इसी प्रकार यदि साधक साधना के लिए कुछ समय पा लेता है तो सुखासन में कम से कम दो घण्टे लगातार बैठे रहने में असमर्थ होने से उसे अङ्गमेजयत्व (अङ्गों के हिलने) के विक्षेप के विघ्न का सामना करना पड़ता है। ऐसी बहुत-सी अन्य बाधायें हैं जैसे किसी व्यतिक्रम के कारण निश्चित समय पर शौच न होना, सामाजिक बन्धन के तहत शादी-विवाह के निमन्त्रण में रात्रि में विलम्ब से शयन करना और प्रातः उठने में आलस्य होना, सर्दी-गर्मी में अचानक परिवर्तन आ जाना तथा साधक का रोग ग्रस्त होना आदि।

इन समस्याओं को यहाँ उठाने का यही उद्देश्य है कि अन्तरंग योग में अच्छी स्थिति वाले साधक "सिद्धयोग" पत्रिका में अपने स्वयंमित लेखों में योग के सैद्धान्तिक पहलुओं की विवेचना के साथ-साथ व्यावहारिक कठिनाइयों के समाधान हेतु अपनी स्वानुभूतियाँ एवं मार्गदर्शन भी प्रस्तुत किया करें ताकि असाध्य सद्गुरुदेव योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के स्थूल शरीर के अभाव में सद्गुरु कृपा पात्र साधकों के निर्देशन का लाभ धारणा के प्रारम्भिक साधक भी उठा सकें। यों सद्गुरुदेवजी के प्रवचनों का हवाला देते हुए यह कहा जा सकता है कि न कुछ करने से कुछ भी मन्त्र जाप आदि कर लेना कल्याणकारी है। शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि नियमित आरती करने वाले को मन्त्र जाप में हुए व्यवधान की क्षतिपूर्ति का लाभ हो जाता है।

● प० शिवकुमार वैद्य शास्त्री

स्वास्थ्य महिमा

जितने मनुज महान हुये हैं सबका यही कथन है,
इस वसुधा पर स्वास्थ्य हमारा सबसे उत्तम धन है।

बिना स्वास्थ्य के भार हमें लगता अपना जीवन है,
शोक, स्वास्थ्य बिन संकल्पों से भरा हुआ यदि मन है।

शीत, ताप सब झेल सके हम यदि आरोग्य बदन है,
सर्वोत्तम रचना है प्रभु की रे "शिव"! मानव तन है।

मिले स्वर्ग-सा सुख हमें यदि मन में लगी लगन है,
आयु बढ़े जीवन शुभ होवे सबका स्वास्थ्य अतन है।

जिसने खोया स्वास्थ्य कहो वह कैसे सुख पावेगा,
करके क्षीण शरीर नहीं वह कुछ भी कर पावेगा।

स्वास्थ्य हँसी आशा अरु मस्ती सुख की है परिभाषा,
दुःख क्या है, भय शोक उदासी विभ्रम क्लान्ति निराशा।

जीवन का सर्वस्व हमारे सुखों का यह नेता,
रोग, प्रकृति, उल्लंघन लांछन जड़ता का विक्रेता।

स्वस्थ व्यक्ति से उत्तम रचना है 'शिव' नहीं भुवन में,
सुख पर है अधिकार उसी का हर्षित हो त्रिभुवन में।

मेरे वसु के हृदय पटल पर ओ३म् महक तड़पन है,
लगन स्वास्थ्य की होवे तब तक जब तक उर धड़कन है।

जितने पुरुष महान् हुए हैं सबका यही कथन है,
इस वसुधा पर स्वास्थ्य हमारा सबसे उत्तम धन है।

❀ अहंकार से आत्मा स्वतन्त्रता खो देता है और बन्धन में पड़ता है।

❀ पढ़ने के लिए नहीं पढ़ना है, चिन्तन और आचरण के लिए पढ़ना है।

—आचार्य विनोबा

● डा० गयाप्रसाद शर्मा

—: चिज्जड़ ग्रंथन :—

भारतीय मनीषियों ने चिज्जड़ ग्रन्थि के बारे में बहुत कुछ उल्लेख किया है कि चेतन और जड़में यह ग्रन्थि किस प्रकार लग गयी क्योंकि श्रुति स्मृतियों में जीवात्मा को परमात्मा से अभिन्न बतलाया है उसको परमात्मा का अंश ही कहा है। स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने श्रीमद्भगवत गीता में कहा है :—

ममैवांशो जीव लोके जीव भूत सनातन:

इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है जैसे अग्नि और अग्नि की चिनगारी, सूर्य और सूर्य की किरणें, समुद्र और समुद्र की लहरें।

भगवान श्रीकृष्ण ने इसी रहस्य को गीता के १३वें अध्याय के २२वें श्लोक में समझाया है

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर: ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुष: पर: ॥

इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वही साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका धारण, पोषण करने वाला होने से भर्ता जीव रूप से भोक्ता ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्द घन होने से परमात्मा जैसा कहा गया है। इस प्रकार जीवात्मा परमात्मा ही हुआ क्योंकि गाय का बच्चा गाय ही होता है।

तुलसीदासजी महाराज भी अपने रामचरित मानस में ऐसा उल्लेख करते है :

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

यह जीवात्मा ईश्वर का अंश है। अविनाशी चेतन निर्मल और स्वभाव से ही सुख की राशि है फिर यह जड़ के बन्धन में किस प्रकार हो गया। श्री पतञ्जलि ऋषि इसका कारण पञ्च क्लेशों को मानते है।

अविद्या अस्मिता राग-द्वेषाभिनिवेशा: क्लेशा:

अज्ञान चिज्जड़ ग्रन्थि यानी जड़ और चेतन की एकता-सी प्रतीत होना, अशान्ति द्वेष और मरण का भय इन पांचों को क्लेश से है परन्तु रामचरित मानस में तुलसीदास जी लिखते है— सो माया बस भएउ गुसाई।

बंध्यो कीर मरकट की नाई॥

वह जीवात्मा माया से वशीभूत होकर तोता और बन्दर की तरह फँस गया।

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गयी यद्यपि मृषा छूटत कठिनाई।

इस प्रकार जड़ और चेतन में गांठ पड़ गयी है यद्यपि यह ग्रन्थि असत्य है परन्तु छूटने में कठिनता है। तोता किस प्रकार फँस जाता है कि जब बहेलिया तोताओं को पकड़ने के लिए जाता है तब जंगल में वे एक चुगली गाड़ देते हैं उसके ऊपर एक फल लटका देते हैं जब तोता इस चुगली पर फल खाने के लिए बैठता है तब वह चुगली घूम जाती है तब तोता उल्टा लटक जाता है। बस वह समझने लगता है कि फँस गया, ऐसे ही कलन्दर बन्दरों को पकड़ने के लिए जाते हैं तब वे अपने साथ छोटे मुँह का घड़ा ले जाते हैं। उस घड़े में चना डालकर घड़े को जमीन में गाड़ देते हैं। जब बन्दर घड़े में चना देखता है तब वह उसके पास बैठकर अपने दोनों हाथ चना लेने के लिए घड़े के अन्दर फँसा देता है और अपनी मुट्ठियों को बाहर निकालता है परन्तु मुट्ठी बाहर नहीं निकलती है प्रलोभन बस चनों को छोड़कर मुट्ठी खोलना नहीं चाहता। अतः वह समझता है कि मैं फँस गया। यद्यपि यह ग्रन्थि झूंठी है परन्तु छूटने में कठिनता है।

तबसे जीव भएउ संसारी। ग्रन्थि न छूटि गांठ होइ सुखारी॥
श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई। छूटइ अधिक-अधिक उरझाई॥

जब जीव से माया का स्पर्श हुआ तभी से यह बन्धन में पड़ गया है, अब ग्रन्थि छूट नहीं रही। इसीलिए सुखी नहीं हो रहा। वेद-शास्त्र में ग्रन्थि छूटने के बहुत से उपायों का वर्णन किया है परन्तु ये गांठ छूट नहीं रही बल्कि अधिक से अधिक उलझती जाती है क्योंकि जीव के हृदय में मोह का अँधेरा है इसलिए ग्रन्थि दिखलाई नहीं दे रही। जो चीज दिखलाई नहीं देगी उसके छूटने का उपाय ही क्या किया जायेगा।

जीव हृदय तम मोह विशेषी। ग्रन्थि छूटि किमि परइ न देखी॥

ये ग्रन्थि कब छूटेगी जब मोह का अँधेरा जीव के हृदय से दूर किया जाए। इनका उपाय तुलसीदासजी ने लिखा है— होइ विवेक मोह भ्रम भागी।

जब विवेक होगा तब मोह दूर होगा परन्तु विवेक कैसे हो आगे लिखते हैं:

बिन सत्संग विवेक न होई। राम-कृपा बिन सुलभ न सोई॥

बिना सत्संग के विवेक नहीं होता, परन्तु यह सत्संग मिलना भी भगवान की बिना कृपा के दुर्लभ ही है। फिर भगवान की कृपा कैसे प्राप्त की जाए? गीता में अर्जुन को उपदेश दिया है जब तुम भगवान की शरण हो जाओगे तब भगवान की कृपा प्राप्त होगी।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सब धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों को त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दन घन वासुदेव परमात्मा की प्राप्त हो। मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। अब प्रश्न रहता है कि भगवान की शरण होने का साधन कौन-सा है जिसकी साधना से भगवान की शरण हुआ जाए।

वह साधन है योग। बिना योग साधन के भगवान की प्राप्ति नहीं हुई है।
सब जगह मौजूद पर नजर आता नहीं। बिन योग-साधन के बिना कोई तुझे पाता नहीं॥

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

—: परीक्षा :—

लुकमान हकीम का यह नियम था कि जब कोई व्यक्ति उनके पास शिष्य होने को आता तो वे उसकी भलीभाँति परीक्षा कर लेते थे।

एक बार एक व्यक्ति शीत ऋतु में शिष्य बनने के विचार से उपस्थित हुआ। लुकमान ने रात को उसे एक चहारदीवारी के अन्दर बन्द कर दिया, जहाँ शीत से बचने के लिए कोई स्थान नहीं था। जब हिमपात प्रारम्भ हुआ और शीतल वायु भी चलने लगी, तो उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शीत से शिथिल पड़ने लगे और शरीर ठण्डा होने लगा। उस समय उस मनुष्य ने उठकर चारों ओर देखना प्रारम्भ किया कि कदाचित कोई वस्तु अथवा स्थान ऐसा मिल जावे जिससे सर्दी हटाऊँ। किन्तु वहाँ केवल एक भारी पत्थर और एक सोटे के और कुछ न पाया। मन में सोचा कि इन्हीं के माध्यम से प्राण बचाने का कोई ढंग निकालना चाहिए। अन्ततोगत्वा सोटा सम्भाल कर खड़ा हो गया और उस पत्थर को उठाना, सरकाना और इधर से उधर लुढ़काना प्रारम्भ किया। इस प्रकार जब अत्यन्त परिश्रम किया तो शरीर में गर्मी आई और सर्दी दूर हो गई। अब खूब थक गया तो एक स्थान पर बैठ गया।

अब फिर शरीर जकड़ना प्रारम्भ हुआ, तो वही पत्थर और सोटा सम्भाला। इसी प्रकार प्रयत्न और परेशानी में रात्रि व्यतीत की। प्रातः जब लुकमान के सम्मुख उपस्थित हुआ तो उन्होंने उसको शिष्य बना लिया और अपने घर जाने का आदेश दिया। वह व्यक्ति सोचने लगा कि न तो इन्होंने कुछ पढ़ाया, न कुछ सिखाया, न कुछ सिखाया और न ही कुछ बतलाया। फिर ये गुरु कैसे और मैं शिष्य कैसा?

लुकमान ने उसके मन की अवस्था समझकर कहा कि भाई जो कुछ है तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है। हमको केवल इतना देखना था कि तुम उस आन्तरिक ज्ञान से कहाँ तक लाभ उठा सकते हो? सो हमने देख लिया कि कल रात बिना किसी पहनने अथवा ओढ़ने की वस्तु के, उस सख्त सर्दी और हिमपात से तुमने प्राण बचा लिये। वहाँ तुमको किसने बतलाया और सिखाया? वह मेरा सूक्ष्म रूप था, जो तुम्हारे घट में विद्यमान है। वही सदैव तुम्हारा मार्ग-दर्शन करता रहेगा। तुम्हारा उससे सम्बन्ध जुड़ा रहना चाहिए।

यदि श्री गुरुदेव का ध्यान चित्त में दृढ़ करलें तो वह परोक्षरूप से आपका पथ-प्रदर्शन करता रहेगा और आपको सुरति उच्च स्थानों की सैर का आनन्द उठाता रहेगी।

एक व्यक्ति रुपया हाथ में लिये दुकान-

दुकान पर यह कहता फिरता था कि "रुपये का कुछ दे दो।" प्रत्येक दुकानदार अपनी-अपनी वस्तुओं के विषय में पूछता कि यह वस्तु दें अथवा वह दें, परन्तु वह यही कहता था कि मुझे "कुछ दे दो।" जब दिन भर फिरते-फिरते हो गया तो किसी दुकानदार ने बुलाकर कहा कि रुपया हमको दे दो, उसके बदले में हम तुम्हें "कुछ" दे देंगे।

उस दुकानदार ने रुपया ले लिया और दस-बारह तह मुँह की मिट्टी की हंडिया भीतर से निकाल लाया जो सब खाली थीं। केवल एक दो में थोड़े से दाल-कंकड़ आदि डाले हुए थे। पहले खाली हंडियों को बारी-बारी दिखाकर पूछा कि देखो इनमें क्या है? वह व्यक्ति उन्हें हिलाकर देखता और कहता गया कि कुछ नहीं, कुछ नहीं। जब कई बार ऐसा हो गया तो उसने बाकी हांडी दिखलाकर पूछा कि देखो इसमें क्या है? उसने उत्तर दिया कि इसमें तो 'कुछ' है।

दुकानदार ने वही हांडी उस ग्राहक को देते हुए कहा कि जब इसमें 'कुछ' है तो बस ले जाइये। ग्राहक ने अब उस हांडी को लेकर खूब ध्यान से देखा तो ज्ञात हुआ कि उसमें दाल-कंकर आदि कुछ वस्तुएँ पड़ी हुई है। यह देखकर उसने उस हांडी को पटक दिया और कहा कि वास्तव में यह कुछ भी कुछ नहीं।

जो लोग भजन-भक्ति, तपस्या एवं ध्यान, उद्यम और पुरुषार्थ करते हैं और उनके प्रतिकार स्वरूप कुछ प्राप्त करनेकी कामना करते हैं, तो [illegible] और उद्यम और पुरुषार्थ का फल तो अवश्यमेव मिलता ही है। अतएव उस फल को पाकर वे लोग समझने लगते हैं कि अब उन्हें कुछ मिल गया है किन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाये तो उन्हें क्या कुछ मिला?

यदि किसी प्रकार की सिद्धि-शक्ति उनको प्राप्त हो जाती है, तो वे यह समझने लगते हैं कि उनको कुछ मिल गया है परन्तु जब भक्ति-परमार्थ के समुद्र में गोता लगाते हैं, तब उन्हें पता चलता है कि कुछ मिलना भी वास्तव में कुछ नहीं। और यदि सांसारिक मान-सम्मान और जागतिक सुख भोगों की प्राप्ति हो गई तो वे भी चूंकि अनित्य और नश्वर हैं इसीलिए वे भी कुछ नहीं।

संसार के ऐश्वर्यभोगों को नित्यतः प्राप्त नहीं। शरीर से जब आत्मा निकल जाता है, तब मनुष्य से कुछ भी नहीं हो सकता।

अतएव मनुष्य को चाहिए कि परमेश्वर की भक्ति निष्काम भाव से करे ताकि उसके दोनों लोक संवर जायें अर्थात् यहाँ भी जीवन सुख से व्यतीत हो और परलोक भी सम्हल जाय।

मनुष्य को संसार में इस प्रकार रहना चाहिए जैसे जल में कमल का पौधा रहता है। मन की शान्ति के लिए यह सर्वोत्तम मार्ग है। मुक्ति के अभिलाषियों के लिए निम्नलिखित साधन लाभप्रद है :

प्रथम गुरु की सेवा में उपस्थित होकर उपदेश लेना, क्योंकि ज्ञान प्राप्त किये बिना किसी कार्य को प्रारम्भ कर देने से हानि होने का भय रहता है। फिर धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करना ताकि गुरु की बतलाई हुई बातों पर पूर्ण विश्वास हो जाय। ऐसा करने से गुरु-उपदेश की बातें और परमार्थ के भेद सुगमता से समझ में आ सकेंगे। फिर उनके भावार्थको समझना और तदानुसार आचरणमय जीवन बनाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ लोगों अर्थात् संतों, महात्माओं और गुरुमुखों की संगति करना

और सेवा करना, दुष्टों की संगति से बचना और उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना परन्तु उनसे झगड़ा न करना, सत्य भाषण, सबकी भलाई चाहना, कटुवाणी से परहेज, उचित अवसर पर सही एवं तर्कसंगत वार्तालाप करना—इन सब बातों पर आचरण करने से मलीन मन भी ऐसे निर्मल हो जाता है जैसे कपड़े के रगड़ने से दर्पण साफ हो जाता है।

यद्यपि कहने को तो ये बहुत-सी बातें हैं, परन्तु मनुष्य यदि इनमें से केवल गुरुभक्ति वाली एक बात को ही दृढ़ता से पकड़कर चल पड़े तो शेष सब बातें स्वयमेव पूरी हो जाती हैं, जैसे कथन है कि 'एकहि साध सब सधै' अर्थात् एक परमेश्वर की भक्ति करने से अन्य सब साधन उसीमें आ जाते हैं।

दोहा

सब आये इस एक में, डाल-पात फल-फूल।
अब पकड़न को क्या रहा, गहि पकड़ा जब मूल
—कबीरजी

जब भगवान श्री रामचन्द्रजी लंका पर विजय प्राप्त करके अयोध्या में आये और उनका राज्याभिषेक हुआ तो विभीषण ने एक अत्यन्त मूल्यवान मणिमाला श्री रामचन्द्रजी को भेंट की। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार किया, परन्तु सोचने लगे कि यह भेंट तो स्वयं रख लेना तो उचित नहीं, किसी स्नेहपात्र को देना चाहिए अतएव वह माला श्री सीताजी के कण्ठ में उन्होंने डाल दी।

श्री सीताजी ने सोचा कि हनुमानजी ने बहुत सेवा की है। उनको श्री रामचन्द्रजी ने कोई पुरस्कार नहीं दिया, इसलिए उन्होंने वह माला हनुमानजी को पहना दी। हनुमानजी ने प्रथम तो उसको मस्तक से लगाया, फिर बड़े ध्यान से उलट-पलट कर देखा, फिर जिह्वा से लगाकर चखा, फिर नाक से लगाकर सूँघा, फिर कान से लगाकर सुना, फिर शरीर से लगाया। तत्पश्चात् एक-एक दाने को तोड़कर देखा और फेंक दिया।

उनके इस कार्य को देखकर सब ठगे से रह गये और मन में कहने लगे कि सीताजी ने अच्छे पारखी को ऐसी अमूल्यवान वस्तु दी! अन्ततः लोगों से रहा न गया और किसी ने पूछा कि हनुमानजी! आप यह क्या कर रहे हैं?

उन्होंने उत्तर दिया—मैंने प्रथम ध्यानपूर्वक इस माला को देखा कदाचित इस पर कहीं राम-नाम लिखा हो। जब कहीं राम-नाम लिखा दृष्टिगोचर न हुआ तो फिर जैसा कि मन्दर का स्वभाव होता है, मैंने इसका स्वाद चखा। जब जिह्वा को भी रस न आया, तो सूँघा कि शायद माला सुगन्ध-युक्त हो। जब सुगन्ध भी न आई तो कान से लगाया कि शायद इसमें से कुछ राग सुनाई दे। जब वह भी सुनाई न पड़ा तो शरीर से लगाकर देखा कि कदाचित् वह शीतल अथवा उष्ण हो ताकि ग्रीष्म अथवा शीत ऋतु में लाभप्रद हो। किन्तु जब ये गुण भी न पाये तो लाचार होकर मणि को तोड़ा कि शायद बाहर नहीं तो उसके भीतर ही राम-नाम लिखा होगा। जब भीतर भी राम-नाम लिखा न पाया तो व्यर्थ समझ कर फेंक दिया!

इस पर लोगों ने प्रश्न किया कि क्या ऐसी कोई वस्तु आपके पास नहीं है जिस पर राम-नाम लिखा हो?

हनुमानजी ने गदा और वस्त्रादि जितनी भी वस्तुएँ उनके पास थीं, दिखाईं, उन पर रामनाम अंकित था, यहाँ तक कि अपने शरीर की त्वचा का कुछ भाग भी उतार कर

दिखला दिया, जिसके मांस पर भी सर्वत्र रामनाम लिखा हुआ था।

यह देखकर भक्तों ने हनुमानजी की अत्यन्त सराहना की, पर साथ ही किसीने यह भी कह दिया कि वानरों को कुछ समझ-बूझ तो होती नहीं, जिस वस्तु को देखते हैं, उसी पर लट्टू हो जाते हैं। इसी कारण हनुमान जी ने भी अपनी प्रत्येक वस्तु पर नाम अंकित कर रखा है, परन्तु भगवान के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान इनको नहीं है।

यह बात जब भगवान श्रीराम ने सुनी तो हनुमानजी से पूछा कि आप हमको क्या समझते हैं? क्या राजा समझकर हमसे प्रेम करते हैं अथवा सखा जानकर ममत्व निभाते हो! हनुमानजी ने विनय की—

देह बुद्धया तव दासोहं,
जीव बुद्धया तव अंशः।
तत्व बुद्धया त्वमेवाहं,
इति मे निश्चला मतिः॥

अर्थात् देह बुद्धि करके तो मैं आपका दास हूँ, क्योंकि यह शरीर आपने दिया है। आप ही इसका पालन पोषण करते हैं और इसका क्षय भी आपकी इच्छा के अधीन है। इसलिए आप इसके स्वामी हैं और इस पर दृष्टि रखने से मेरा दर्जा दास का है। और जिस प्रकार स्वामी की सेवा-टहल-चाकरी करना सेवक का धर्म है, उसी प्रकार मैं भी ये शारीरिक कर्त्तव्य पूर्ण करता हूँ। यदि यह कहा जाये कि जब कार्य अथवा सेवा का अभिप्राय पूरा हो गया तो फिर उसको जारी रखने की क्या आवश्यकता है? तो निवेदन है कि एक व्यक्ति चिन्तामणी की खोज में छलनी लेकर मार्ग में मिट्टी छाना करता था। मिट्टी छानते-छानते अकस्मात् अथवा कर्मों के फलस्वरूप अथवा परमात्मा की कृपा से चाहे कुछ भी समझो, उसे चिन्तामणी प्राप्त हो गयी और वह धनवान बन गया। किन्तु उसने अपने स्वभाव को न बदला और अपने नित्य कर्म को चालू रखा और वह उसी प्रकार मार्ग में मिट्टी छानता रहा।

यह देखकर किसी ने उससे पूछा कि भाई! अब किस वस्तु की खोज में मिट्टी छानते हो! उसने उत्तर दिया कि अब उद्देश्य और अभिप्राय कुछ नहीं, प्रत्युत शरीर का स्वभाव ही ऐसा हो गया है अथवा यूं समझ लो कि इस विचार को मिटाने के लिए यह कार्यवाही जारी है कि मेरे चित्त में यह अहंकार न आ जाये कि मैं धनवान बन गया हूँ और मैंने कुछ प्राप्त कर लिया है।

अपितु मुझे सदैव यह स्मरण रहे कि जो कुछ मैंने पाया है, वह इसी साधन अर्थात् छानता से पाया है अथवा यह समझो कि इस कार्यवाही से अन्यान्य प्राणियों को अपना उद्देश्य अभीष्ट हो।

इसलिए हे दीनानाथ श्रीरामचन्द्र जी महाराज! मैं भी शरीर का स्वाभाविक कर्म करता हूँ अन्यथा मैं जीव बुद्धि से आपका अंश और ब्रह्मबुद्धि अर्थात् ज्ञान दृष्टि से आपका ही रूप हूँ, यह मेरी अचूक बुद्धि है।

सद्गुरु के सच्चे सेवक को भी ऐसी ही अचलनिष्ठा अपने सद्गुरुदेव पर होनी चाहिए और उसे पूर्ण ज्ञान हो जाने के पश्चात् भी अपने सेवक-धर्म के कर्त्तव्यों को पूरा करते रहना चाहिए।

एक यात्री किसी मरुस्थल में यात्रा कर रहा था। जब मध्यान्तर का समय हुआ तो प्यास, धूप की तीव्रता तथा बालू के ताप से श्रान्त क्लान्त होकर गिर पड़ा और जल की

शोक में नेत्र फाड़-फाड़कर देखने लगा। क्या देखता है कि चारों ओर से नदी ठाठें मारती हुई उसकी ओर बढ़ती चली आ रही है। यह देखकर वह बहुत घबरा गया और सोचने लगा कि अब कहां जाऊं और क्या करूं? चारों ओर से पानी आ रहा है अब अवश्य ही डूबकर मर जाऊंगा।

मृत्यु को सम्मुख देखकर वह पुकारने लगा कि हे ईश्वर! तू अनादि है और तेरी माया भी अनादि है। हम दीन हीन जीव इस माया के जाल में फंसे हुए दुःख पाते हैं। इस समय तेरे सिवाय मेरा और कोई रक्षक नहीं है।

उसकी पुकार सुनकर एक और यात्री उस ओर आ निकला और उसकी दशा को देखकर कहने लगा कि तू ईश्वर को कर्ता और अपने को कर्मसे स्वतन्त्र मानता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि सब कुछ कर्म से होता है। कर्म से ही ईश्वर, जगत और जीव होता है। जो जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है। बिना पुरुषार्थ के कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। यदि तुम अपने प्राण बचाना चाहते हो, तो कुछ पुरुषार्थ करो, जिससे तुम्हारी जान बचे। ईश्वर तुमको गोद में उठाकर थोड़े ही ले जायेगा।

उनकी ये बातें हो ही रही थीं कि तीसरा यात्री आ विद्यमान हुआ और कहने लगा कि ईश्वर और कर्म दोनों ही समय के अधीन हैं। जब काल चक्र चलता है तब अपने-अपने स्थान पर ईश्वर, जीव और जगत तथा कर्ता, कर्म और कार्य प्रतीत होते हैं। जो काल चक्र न होता तो उनको नाम और स्थान कहाँ मिलता? और प्रत्येक कर्म का फल भी तो अपने-अपने समय पर मिलता है, इसलिए तुम समय की प्रतीक्षा करो। जो कुछ होना है, अवश्य होकर रहेगा, व्यर्थ की चिन्ता से क्या लाभ?

दोहा

तुलसी मन मैदान में, तान पिछौरा सोय।
अनहोनी होती नहीं, होनी होय सो होय॥

इतने में चौथा यात्री आ पहुँचा और उनका वार्तालाप सुनकर कहने लगा कि जब चारों ओर पानी ही पानी दृष्टिगोचर होता है, तो उससे बचकर तुम कहां जाओगे? जब तक भिन्नता का विचार है, उस समय तक कोई युक्ति प्रभावकारी नहीं हो सकती। इससे मिलकर ही बच सकते हो। इसलिए योग के अतिरिक्त जो कुछ है सब व्यर्थ है। और उस योग की युक्ति भी मैं तुम्हें बताता हूँ। आंख, नाक, कान और मुख बन्द करके चाहे जितने जल में कूद पड़ो, जल तुम्हें नहीं डुबो सकेगा।

अभी यह बात हो ही रही थी कि पाँचवां यात्री पहुंच गया और उनकी बातें सुनकर ठहाका मारकर हंसा और बोला—जब तक मनुष्य का चित्त स्थिर नहीं होता, उस समय तक कोई युक्ति उसकी समझ में नहीं आती और न हो कोई उपाय उससे बन पड़ता है। इसलिए सर्वप्रथम मन-चित्त को स्थिर करो और फिर विचार करो तो ज्ञात होगा कि जिस जल के भय से तुम परेशान हो रहे हो, वह वस्तुतः मृगतृष्णा का जल है। इसलिए इस मिथ्या और असत् वस्तु से भयभीत क्यों होते हो?

इस बात को सुनकर वे सब आश्चर्य में डूब गये और सोचने लगे कि यदि यह मिथ्या है तो फिर सत्य होकर क्या दिखाई देता है? इतने में छठा यात्री उस ओर आ निकला तथा इन सबको देखकर वहाँ आ गया और कहने लगा कि तुम्हारा भ्रम अभी दूर नहीं

हुआ। इसका कारण यह है कि सब विचार मन-मस्तिष्क से उत्पन्न होते हैं और उनको शक्ति चेतन आत्मा से मिलती है। तुम उसी चेतन आत्मा की ओर क्यों नहीं देखते जिससे सब भ्रम दूर हो जाय। यहाँ न बालू है न जल। सूर्य की किरणें जब बालु कणों पर पड़ती हैं तो उन कणों की चमक ही जल की भाँति दिखाई पड़ती है। अपनी छवि को ऊँचा उठाओ और सूर्य को देखो, जल का भ्रम दूर हो जायेगा।

इतने में एक अवधूत कहीं से आ पहुँचे और उनके वार्तालाप को सुनकर कहने लगे, कि जब तक आंख खुली है, तभी तक सब धन्धा है। तनिक आँख बन्द करलो तो सब अभीष्टसिद्ध हो जायेंगे। ईश्वर, जीव, कर्म, काल, योग, विचार, सूर्य और उसका प्रकाश आदि सब वस्तुएँ तुम्हारे भीतर से उत्पन्न हुई हैं, इन सबके नाम भी तुमने रखे हैं और इन सबके मानने और जानने वाले भी तुम हो। बालू में जल के भ्रम की उत्पत्ति भी तुम्हारे अन्दर से ही हुई है। फिर व्यर्थ ही जल से भयभीत होते और सूर्य के देखने की इच्छा करते हो। अन्तर्मुखी होकर अपने घट में क्यों नहीं देखते सब भ्रम क्षण भर में नष्ट हो जायेगा और वास्तविकता स्पष्ट दिखाई देने लगेगी। और घट में देखने का उपाय अर्थात् "सुरत-शब्द-योग" की युक्ति समय के परिपूर्ण सद्गुरुदेव से प्राप्त होती है। उनकी शरण-संगति ग्रहण करो और अपना काम बना लो।

शब्द 'स्वाहा' का महत्व

यज्ञ में 'स्वाहा' का शब्द जोर से मिलकर उच्चारण करने और आकाश गुंजाने का फल एक यह भी है कि मनुष्य के हृदय व मस्तिष्क में प्रत्येक समय कुसंस्कारों की तरंगें उठती हैं, परन्तु जब मन्त्रों की आहुति पर स्वाहा जोर से गुंजाया जाता है तो वह आवाज मस्तिष्क के अन्दर एक लहर पैदा कर देती है, जैसे कि शब्द आकाश में लहरें उत्पन्न करते हैं।

'स्वाहा' शब्द का काम यह है कि मन में उठने वाले कुसंस्कारों की लहरों को 'स्वाहा' शब्द काट डालता है और बाहर आकाश में अणुद्ध परमाणु जो मनुष्य के कुसंस्कारों का स्वागत करने के लिए दौड़ते हैं यह शब्द उसे भी बहुत दूर भगा देता है।

—प्रभु आश्रित

● स्वामी सारदानन्द

—: शक्तिशतक :—

अवतार, गुरु और सिद्धपुरुष

[श्री स्वामी सारदानन्द का यह लेख पठनीय है। हम सबको आराध्य प्रभुजी और महाप्रभुजी की जीवनचर्या को झाँकी उन्हीं शक्तिप्रतीकों में करनी चाहिए, जो अपने लोक-कल्याण के लिए ही मुक्त पुरुष के रूप में समय-समय पर यहाँ आया करते हैं। —सम्पादक]

शास्त्रकार कहा करते हैं—"पेड़-पत्थर लेकर भगवान् की विशेष लीला प्रकाशित नहीं होती, बल्कि मनुष्य का मन ही उनकी विशेष लीला का स्थान है।" वे कहते हैं—"यदि मनुष्य न रहता, कोई भक्त न होता तो भगवान् को पूछता, कौन? उनकी अवार शक्ति और महिमा का वेद-वेदान्त लिखकर कौन प्रचार करता? भक्त है, इसी कारण तो भगवान् हैं।" फिर कहते हैं—"भागवत, भक्त और भगवान्—तीनों एक हैं और एक में तीन हैं।"

विशेष शक्तियुक्त पदार्थों या शक्ति-प्रतीकों की विवेचना में प्रवृत्त होकर हमने आरम्भ में ही मनुष्य में शक्ति-पूजा की अवधारणा की है। इससे कोई ऐसा अनुमान न कर ले कि मनुष्य के भीतर ही सर्वप्रथम विशेष शक्ति का परिचय पाकर मनुष्य उसकी उपासना में नियुक्त हुआ और गुरुपूजा ही उसने पहले सीखी थी। मानव प्रकृति का इतिहास बताता है—

'मनुष्य ने प्रकट रूप से शक्ति-पूजा करना संसार में थोड़े ही दिन पहले सीखा है। भारत में ही उस पूजा का प्रथम अभ्युदय हुआ और भारत से ही संसार भर में इस पूजा का प्रचार हुआ। स्वामी विवेकानन्दजी कहते थे—"समय-समय पर भारत से ही प्रबल धर्म तरंग उत्थित होकर संसार में सर्वत्र प्रवाहित हो रही है और आगे भी बराबर होती रहेगी।" वैदिक युग से ही इसका आभास मिलता है, बौद्धयुग में तो यह निस्सन्देह प्रमाणित हुआ है और वर्तमान युग में वेदान्त का प्रचार हमारे नेत्रों के सामने ही अभिनीत हो रहा है। इतिहास जहाँ भी काल के अन्धकार का भेदन करने में समर्थ हुआ है और हो रहा है, वहीं स्वामी रामकृष्ण की यह बात प्रमाणित हो रही है।

भारत में ही गुरुरूपी ईश्वरी शक्ति का प्रथम विकास मनुष्य में हुआ है। ब्रह्मज्ञ वैदिक ऋषि इसके प्रमाण हैं। अवतार-रूपी महाशक्ति-केन्द्र ने भारत में ही पहले-पहल उदित होकर संसार भर में महाविप्लव किया था और उसी ने सर्वत्र सभ्यता तथा ज्ञानालोक का प्रकाशन किया था, भगवान् बुद्ध और उनके परवर्ती प्रचारकों के कार्यों से यह प्रमाणित है। नागार्जुन आदि बौद्ध प्रचारकों का तातार, चीन और जापान पर अधिकार स्थापन करना, महाराजा अशोक का इजिप्ट, एशिया-माइनर फारस आदि देशों में प्रचारक भेजना तथा उन देशों में अभी भी शासन-स्तम्भों का विद्यमान रहना—इन बातों का स्मरण कराते हैं कि बहुकालाभ्यस्त श्रीगुरु-पूजा तो अब भारत में सर्वत्र मज्जागत हो गयी है।

अवतार, आध्यात्मिक राज्य के एक छत्र

सम्राट होते हैं। वे समस्त देशों के कालों के लोकगुरु होते हैं। युग-युग में अवतार अनेक होने पर भी व्यक्ति एक ही हैं। वे कभी गुप्त और कभी व्यक्त भाव से अविर्भूत होकर चिरकाल से जनकल्याण-कार्य करने में निरत हैं।

उनका शरीर और मन ईश्वरी सम्पूर्णता और मानवी दुर्बलता की अपूर्व मिलन भूमि है। स्थूल बुद्धि वाले मनुष्यों के मन में विपरीत धर्मभावों का सामंजस्य करने के लिए पुराणकारों ने हरिहर, अर्धनारीश्वर आदि अपूर्व देवमूर्तियों की कल्पना की है। तो क्या उनकी इस कल्पना के मूल में विपरीत धर्मशील अपूर्व अवतार-विग्रह ही विद्यमान है?

"अवजानन्ति मां मूढा
मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो
मम भूतमहेश्वरम्॥"
—(गीता ९/११)

अवताररूप गुरु को ठीक-ठीक जानने और पहचानने में कौन समर्थ है? वह सभी कालों में परमात्मा की तरह 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' है,—जिसके निकट इच्छा हुई कृपा पूर्वक उसके सामने स्वस्वरूप प्रकट करते हैं। उन्हीं के श्रीमुख से उसके स्वरूप-लक्षण सुनकर श्रुति-स्मृति आदि धर्मशास्त्र जैसे लिखने में समर्थ हुए हैं, उसी का संक्षिप्त मर्म नीचे देकर हम जगद्गुरु और अवतारी पुरुष में शक्ति पूजा की बात करेंगे।

प्रथम। वे कौन हैं, पहले क्या थे, इस जन्म में मनुष्य-शरीर ग्रहण कर उनके आगमन का कारण क्या है—इत्यादि बातों की चेतना अवतारी पुरुष में बचपन से ही थोड़ी बहुत मात्रा में दिखाई पड़ती है। भगवान् श्रीकृष्ण में उस ज्ञान का सबसे अधिक विकास हुआ था, यह बात भारत के धर्मेतिहास में प्रसिद्ध है।

द्वितीय। अभाव का अनुभव ही हमारी समस्त चेष्टाओं का मूल है और उस अभाव की पूर्ति न होने से दुःख आ जाता है। अपना स्वयं का कोई अभाव न रहते हुए भी दूसरे के अभाव से या दूसरों के अभाव विशेष को दूर करने के लिए अवतारी पुरुष की सारी चेष्टाएँ होती हैं। उस एकनिष्ठा चेष्टा का अपरिमित वेग साधारण मानव की अभाव बोध-प्रसूत चेष्टा में भी कभी लक्षित नहीं होता। जीवनभर निःस्वार्थ चेष्टा करने में केवल वे ही समर्थ होते हैं।

तृतीय। मनोराज्य में उनका एकाधिपत्य है। जिस प्रकार अपने मन पर है उसी प्रकार दूसरे मनुष्यों के ऊपर भी है। दूसरे के मन के कर्मसंचित पूर्वसंस्कारों को चूर्ण-विचूर्ण करके थोड़े ही समय के भीतर नये भाव से और नवीन आदर्श से गठित करने में वे ही समर्थ हैं। शरीर के स्पर्श मात्र से दूसरे के मन में परिवर्तन लाकर उसे समाधिस्थ कर देना या कोई विशेष भाव उपलब्ध करा देना—उनके सम्बन्ध में इस प्रकार की बातें सभी जातियों के धर्मेतिहास में विद्यमान हैं।

चतुर्थ। परमात्मा का अपरोक्ष रूप से अनुभव करने के नये मार्ग का आविष्कार करना या जनसमाज में प्रचलित पूर्व-विदित मार्गों या धर्मों के भीतर सम्बन्ध-सूत्र का आविष्कार करना और उस भाव का नूतन आदर्श अपने जीवन में प्रदर्शित करके जन-समाज में प्रवर्तित कर देना वे ही लोग अनादिकाल से सम्पन्न करते आये हैं।

पंचम। धर्मादर्श के अतिरिक्त अवतारी पुरुषों के जीवन में तात्कालिक समाज का

नैतिक आदर्श भी स्वाभाविक रूप से सम्पूर्ण परिस्फुट होता रहता है। नैतिक आदर्श धर्मादर्श से सम्पूर्ण भिन्न है और समाजके परिवर्तन के साथ-साथ प्रत्येक युग में वह भिन्न रूप धारण करता है—इस बात को न समझकर ही हम प्रायः सभी अवतारी पुरुषों के जीवन को एक ही प्रकार के नैतिक आदर्श से गठित देखने की आशा करते हैं और उनके अलौकिक सामान्य चरित्र का उस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन करने में प्रवृत्त हो हम भ्रम में पतित होते हैं।

षष्ठ। अवतार मुक्तकण्ठ से असाधारण को कहते जाते हैं—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"—"हे त्रितापासक्त जीव, मेरा आश्रय लो, मैं तुम्हें शान्ति दूंगा।"—और वे लोकगुरु और ईश्वरावतार हैं, यह बातस्वयं अनुभव करते हैं और दूसरों को भी अपनी शक्ति के प्रभाव से उसी प्रकार का अनुभव करा देते हैं।

अवतारी पुरुष के समय-समय पर गुप्त रूप से आविर्भाव की बात हमने पहले बताई है। श्रीरामकृष्णदेव इस विषय में कहते थे—"जैसे राजा कभी सज-धजकर सिपाही-सन्तरियों को साथ लेकर प्रकट रूप से डोल-दमामा पिटवाते हुए नगर देखने के लिए निकलते हैं, फिर कभी भेष बदलकर प्रजाओं की अवस्था और काम-काज देखने के लिए निकलते हैं और यदि प्रजाओं में किसी बुद्धिमान् पुरुष को ज्ञात हो जाय कि 'यही हमारे राजा हैं, छद्म-वेश में हमारे बीच में आये हैं' और इस बात को एक दूसरे से काना-फूसी करते हुए वे कहने लगते हैं तो राजा वहाँ से खिसक जाते हैं, ठीक उसी प्रकार अवतार के व्यक्त और गुप्त रूप से आविर्भाव के बारे में समझना।"

श्रीरामकृष्णदेव एक अन्य बात अवतार के सम्बन्ध में कहते थे—"अवतारी पुरुष की कभी मुक्ति नहीं होती"। "जैसे सरकारी आदमी को जमींदारी के जिस स्थान में गड़बड़ी होती है वहीं तुरन्त चले जाना पड़ता है और वहाँ शान्ति स्थापित करनी पड़ती है, इसी प्रकार ब्रह्ममयी देवी की जमींदारी-रूप इस पूर्ण संसार में जहाँ कहीं गड़बड़ी उपस्थित हो, वहीं अवतारी पुरुष को आविर्भूत होकर लोगों का दुःखमोचन करना होता है।" इस बात से कोई ऐसा न समझे कि अवतारी पुरुष को अनन्तकाल तक ही माया के अधीन रहना पड़ता है। वे स्वभाव से ही मायाधीश तथा आत्माराम हैं—कभी भी वे बद्ध नहीं होते। अतः उनकी मुक्ति कब और कैसे हो? यह प्रश्न ही नहीं उठता।

अवतारी पुरुष ही आध्यात्मिक जगत् में एकमात्र पथ-प्रदर्शक है। यह संसार आदिकाल से सिर झुकाकर उनके पवित्र चरित्र की पूजा करता आ रहा है और चिरकाल तक करता रहेगा। उनके मनुष्य-शरीर धारण करने से समस्त मनुष्य धन्य हो गये हैं। हे भारत, प्रत्येक युग में तुम्हीं उनके विशेष कृपा पात्र रहे तथा इसी कारण तुम धर्म जगत् में श्रेष्ठ स्थान पर अधिकार करके विराजमान हो। उन्हें सम्मान देने और पूजा करने से तुम कभी मुँह न मोड़ो।

ईश्वरावतार की पूजा के अतिरिक्त भारत, आध्यात्मिक जगत् में सिद्ध-पुरुष, मन्त्रदाता गुरु और उपगुरु आदि को चिरकाल से सम्मान देता और उनकी पूजा करता आ रहा है। इन लोगों के सम्बन्ध में भी यहाँ दो-चार बातें कही जा सकती हैं।

सिद्धपुरुष ईश्वरावतार के द्वारा निर्दिष्ट किये गये किसी मार्ग विशेष से अग्रसर होकर

पूर्णकाम और जीवन्मुक्त होते हैं। उस समय उनके लिए स्वार्थ के लिए चेष्टा करना असम्भव हो जाता है, क्योंकि यथार्थ धर्मानन्द का लाभ हो जाने से उनकी अवस्था इस प्रकार हो जाती है—

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं
मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन
गुरुणापि विचाल्यते ॥"
—(गीता ६/२२)

इस प्रकार की अवस्था प्राप्त हो जाने से उन्हें संसार के सभी सुख-दुःखादि अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। अवतारी पुरुष की तरह शक्ति का प्रकाश न होने पर भी उनमें गुरुशक्ति प्रबुद्ध होकर सदा लोककल्याण कार्य में नियुक्त रहती है। धर्म जगत् में नये मार्ग का आविष्कार करने में वे समर्थ न होने पर भी उनके दर्शन मात्र से स्थूलदर्शी काम कांचनैकदृष्टि सम्पन्न मनुष्य छाया की तरह अस्पष्ट प्रतीत होने वाली धर्मादर्श को सचल और जीवित रूप से अनुभव कर सकते है। वे ईश्वरावतार की तरह स्पर्श या इच्छा मात्र से ही लोगों को धर्म-जीवन दान करने में समर्थ न होते पर भी दूसरों के भीतर धर्म जीवन उद्दीपित करने की उनकी इच्छा निष्फल नहीं होती।

अवतारी पुरुष की तरह, किसी जाति विशेष के जीवन में और उसके भीतर से अन्यान्य जातियों के जीवन में प्रबल वेग से उत्ताल तरंग मनयुक्त धर्म प्लावन प्रवाहित करके अपूर्व परिवर्तन साधित न कर सकने पर भी वे अपने चारों ओर के मनुष्यों के मन में धर्म का स्रोत प्रवाहित करके उन्हें धन्य और कृतार्थ कर सकते हैं। सिद्धपुरुष मन्त्र आदि के अवलम्बन के द्वारा दूसरे मनुष्यों में धर्म शक्ति संचारित कर सकते है। अवतारों की बात छोड़कर, अन्य किसी भी मनुष्य में इन लोगों के सदृश धर्म शक्ति का प्रकाश नहीं दिखायी पड़ता। अवतार धर्म के प्रवर्तक हैं और सिद्धपुरुष उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म के आदेश से अपने जीवन को गठित करके उसे पुष्ट बनाते रहते हैं। इनकी पूजा करने तथा इनके आदर्श से जीवन गठित कर सकने से मनुष्य धन्य और कृतार्थ होगा, यह कहना अनावश्यक है।

स्थूल नेत्रों का विषय न होने पर भी धर्म एक जीती-जागती शक्ति है। उसके फल का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है तथा दूसरों को भी उसका अनुभव कराया जा सकता है। विशेष शक्ति सम्पन्न पुरुष अपने शरीर और मन से वह शक्ति दूसरों में संचारित करा सकते हैं तथा ईश्वर, आत्मा, परलोक-विषयक जिन सब अनुभवों का जीवन में प्रत्यक्ष करना पहले उसके लिए स्वप्न में भी अगोचर था, उनका भी प्रत्यक्ष अनुभव दूसरों को करा सकते हैं। चिरकाल से इन विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव करके भारत उन पर विश्वास करता आया है।

बहुत दिनों की चेष्टा, ध्यान और एकाग्रता के द्वारा किसी विशेष भाव की उपलब्धि करके उसे किसी विशेष शब्द के साथ ऐसे सुदृढ़ भाव से संयुक्त कराया जा सकता है कि उसके उच्चारण मात्र से वह विशेष भाव उज्ज्वल रूप से दूसरे के मन में उदित होकर

उसे अपूर्व अनुभव प्रत्यक्ष करायेगा। तथा प्रत्येक अनुभव जिस प्रकार सुख या दुःख उत्पन्न करके मनुष्य के जीवन को परिवर्तित कर सकता है, उसी प्रकार इस अद्भुत अनुभव में भी दूसरों के मन को परिवर्तित करके विशेष आनन्द या दुःख प्रदान करने की शक्ति है। इसी का नाम मन्त्रशक्ति है। उस मन्त्रशक्ति के प्रभाव से भी भारत चिरकाल से अवगत होकर इसकी आराधना में सदा से संलग्न है। कपटी और धूर्तों के हाथ से समय-समय पर धोखा खाने तथा हानि पहुँचाये जाने पर भी यथार्थ गुरु की खोज में वे विषय प्राचीन एवं आधुनिक काल में अनेक बार परीक्षित तथा सत्य प्रमाणित हुए हैं। मन्त्रशक्ति के ऊपर विश्वास ही मन्त्रदाता गुरु की उपासना का मूल है।

मन्त्रफल की उपलब्धि करने के लिए केवल उपयुक्त गुरु की ही आवश्यकता है, ऐसी बात नहीं। "आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः" तथा श्रद्धा-सम्पन्न उपयुक्त शिष्य में गुरुशक्ति संचारित होने पर ही तुरन्त फल प्रत्यक्ष किया जा सकता है। सुफल लाभ करने में यहाँ भी उर्वर भूमि, उत्तम कर्षण, उत्तम बीज और सर्वोपरि उस बीज की यत्न के साथ सुरक्षा तथा जल-सेचन आदि आवश्यक है। बीज उत्तम होने पर भी अनेक स्थलों में मन्त्र का फल प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका कारण है—इन सब आवश्यक विषयों का अभाव। एक श्रद्धास्पद मित्र कहते थे—"लंगर डालकर डाँड़ खेने से जिस प्रकार नाव कभी नहीं चलती, उसी प्रकार उन वस्तुओं का अभाव होने से भगवान् की शक्ति की उपलब्धि करना भी असम्भव है।

कई बार मन्त्रशक्ति पर विश्वास विषयासक्त व्यक्ति के मन को हानि भी पहुँचाता है। यह जानकार कि एक व्यक्ति का मन दूसरे व्यक्ति के मन पर प्रभाव डाल सकता है, काम क्रोधान्ध पुरुष कभी-कभी अपनी स्वार्थ तृप्ति की आशा से उस शक्ति का आश्रय ग्रहण करता है। अथवा दुर्बल, हीन, पशुवृत्ति मनुष्य अपनी पाशव प्रवृत्ति की चरितार्थता के लिए, पवित्र गुरुनाम के अयोग्य किसी नीच पुरुष की सहायता से उस शक्ति का प्रयोग करता है। वैसी चेष्टा कभी सफल होने पर भी उस दुष्कर्म के फलस्वरूप उस व्यक्ति को अनेक प्रकार का दुःख, अशान्ति और मानसिक अवनति रूप दण्ड भोगना पड़ता है।

ज्ञान-बीज बोया हुआ कभी भी अंकुरित हुए बगैर नहीं रहेगा। वह क्या ज्वार का दाना है, जो दो दिन में निकल आयेगा? ज्वार का दाना उगेगा ही ऐसा निश्चय नहीं है, लेकिन ज्ञान-बीज अमर है, इसलिए उसकी कोई चिन्ता नहीं। अपने पर सबका अधिकार है, परन्तु अपना ईश्वर के सिवाय और किसी पर हक नहीं, यह ध्यान में आ जाये, तो मनुष्य निरन्तर प्रसन्न रह सकता है।

—विनोबा

सैर कर दुनिया की गाफिल

● श्री कृष्णदत्त भट्ट

['पद-यात्रा' का अपना एक महत्व है। पढ़िए इस लेख में इसके लाभ, जिन्हें प्रमुख पद-यात्री आचार्य विनोबा के सहयात्री श्री भट्ट ने कलमबद्ध किया है। —सम्पादक]

पैदल आप अकेले घूम सकते हैं।

दुकेले घूम सकते हैं।

दस, बीस, पच्चीस, पचास, हजार आदमियों के साथ घूम सकते हैं।

हर बार आपको अनोखे अनुभव मिलेंगे।

भगवान् के नाना रूप आपके सामने आयेंगे।

सबसे आप परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

सबके दुःख-सुख में आप शरीक हो सकते हैं।

सारांश, मानव के अधिकतम विकास का साधन है—

पद-यात्रा

पद-यात्रा में लगने वाला समय व्यर्थ नहीं जाता।

पद-यात्रा में लगने वाली शक्ति बेकार नहीं जाती।

पद-यात्रा में मिलने वाला अनुभव ही जीवन का और जगत् का सच्चा अनुभव होता है।

तभी तो हमारे साधु-संन्यासी, हमारे धर्मोपदेशक हमारे तीर्थ यात्री अनादिकाल से पैदल घूमते आये हैं। और इसलिए तो विनोबा कहते हैं—

'पैदल प्रवास में कौड़ी का खर्च नहीं आता।'

एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाना हो और परिचय करना हो, तो उसके लिए पद-यात्रा से बढ़कर बेहतर तरीका दूसरा हो नहीं सकता। दो-दो, तीन-तीन महीने अपने यहाँ के नौजवान यात्रा करें तो निरीक्षण बढ़ेगा, प्रेमभाव बढ़ेगा, ज्ञान प्रचार भी बढ़ेगा। इस तरह से अपने देश में लोग घूमते थे। नानक, नामदेव, शंकराचार्य, रामानुज, चैतन्य महाप्रभु ऐसे सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं।"

पद-यात्रा को चैतन्य का लक्षण बताते हुए दादा कहते हैं। "आप यह कल्पना मत करिये कि इससे आप पिछड़ जायेंगे। यह डर अब छोड़ दीजिए। रेल में पार्सल बनकर जाने में चैतन्य का लक्षण नहीं है। चैतन्य का लक्षण पैदल चलना ही है। मनुष्य दीर्घायु बनेगा। पैदल चलने में समय जायेगा, तो आयु वृद्धि भी होगी। साइकिल पर चलने वाले की पीठ कमान बन जाती है। जो पैदल चलता है, वह दीर्घायु होता है। इसलिए देश की यात्रा पैदल करनी चाहिए। अपने देश में काशी का मनुष्य चाहता था कि मैं रामेश्वर जाऊँ और समुद्र का जल लाकर भगवान् का अभिषेक करूँ। रामेश्वर में रहने वाला काशी की गंगा देखने की इच्छा करता था। ऐसी प्रेरणा इस दशा में थी, क्योंकि देश एक राष्ट्र है, ऐसा मानते थे।"

पद-यात्रा का आनन्द वही जानता है, जिसे उसका सौभाग्य प्राप्त होता है। यों लोग चलती रेल से भी सैर-सपाटे का आनन्द लेते हैं, कैमरा और रबड़ पट से भी घूमने का शौक पूरा करने की चेष्टा करते हैं! पर "कहाँ राजा भोज, कहाँ गंगुआ तेली।"

तस्वीर तो तस्वीर, असली चीज असली है !

खुला आकाश ।
खुली प्रकृति की गोद ।
कहीं पर्वत, कहीं सागर ।
कहीं नदी, कहीं तालाब ।
कहीं बालू का मैदान ।
कहीं ऊसर और बंजर ।
कहीं चिकनी-चिकनी बड़ी-बड़ी चट्टानें ।
कहीं कंकरीली और पथरीली जमीन ।
कहीं सूखे मैदान में खड़ा एकाकी पेड़ ।

मानो, कहता है कि—

भगवान् सर्वत्र खड़े हैं हमारी रक्षा के लिए ।
जिधर देखिये, मन मस्त हो उठता है ।
सैर कर दुनिया की गाफिल ।
जिस सिम्त नजर कर देखे है ।
उस दिलबर की फुलवारी है ।
कहीं सब्जी की हरियाली है ।
कहीं फूलों की गुलकारी है ॥

उड़ीसा से निकलकर हमने आंध्र में प्रवेश किया । शाम को लम्बे-चौड़े सुरम्य मैदान में प्रार्थना-सभा का आयोजन ।

सामने ऊँचे-नीचे पहाड़ ।
बाबा गद्गद हो उठे ।

बोले :—

चारों ओर ये छोटे-बड़े पहाड़ । ये पहाड़ क्या करते हैं ? ये अपने पास कोई चीज नहीं रखते । जो पानी गिरता है, वह पहाड़ों की वजह से खिचकर आता है ।

अधिक से अधिक वर्षा पहाड़ों पर होती है । लेकिन यह सारा का सारा पानी पहाड़ ठेल देता है, नदियाँ बहती हैं । परमेश्वर की कृपा जिन पर हुई है, उनका धर्म इन पहाड़ों के जैसा है । जिनके पास अधिक बुद्धि है, जिन्हें अधिक शक्ति मिली है, उनका यह काम है कि वे अपनी बुद्धि और शक्ति दूसरों को दे । ऐसा यदि वे करते हैं, तो उनकी ऊँचाई शोभा देती है । अगर ये पहाड़ सारा पानी अपने पास रख लेते, तो हमें इनसे द्वेष होता और फिर हम द्वेष से इन्हें खोदकर इनसे पानी निकालते । लेकिन ये पहाड़ अपनी ऊँचाई का लाभ हमें देते हैं, और इसलिए इनके दर्शन से हमारे मन में आनन्द पैदा होता है ।"

कोरापुर में तब तक मिले ६ सौ से अधिक गामों के समयदान की चर्चा करते हुए बाबा बोले ।

"हम सोचते थे कि इतना औदार्य इन गामीणों को किसने सिखाया । हमको यही उत्तर मिला कि ये पहाड़ों की सन्निधि में रहते हैं, जहाँ से नदियाँ बहती हैं । इसलिए इनके हृदय भी ऐसे प्रवाहित, उन्नत और उदार बनते हैं । ऋषि से पूछा गया कि ब्राह्मण का जन्म कहाँ हुआ ? यह 'ब्राह्मण' शब्द जैसे अर्वाचीन भाषा में जातिवाचक है, वैसा नहीं । क्योंकि, जातिवाचक ब्राह्मण कहाँ पैदा होते हैं, यह ऋषि को मालूम नहीं । उसकी कल्पना में जो है, वह तो उदार ब्राह्मण है, जिसके मन में सबके लिए उदाहरण है ।

तो ऐसे ब्राह्मण कहाँ पैदा होते हैं ? इसका जो उत्तर ऋषि ने दिया है, वह संस्कृत में है ।

सुन्दर श्लोक है, सुन्दर ध्वनि ।

उपह्वरे गिरीणाम्
संगमे च नदीनाम्
धियो विप्रो अजायत ।

पर्वतों की सन्निधि में ब्राह्मण पैदा होते हैं ।

ऋषि कहता है, "ब्राह्मण तो पहाड़ों की सन्निधि में रहते हैं, लेकिन ध्यान से पैदा होते हैं । हम पहाड़ों का ध्यान करते हैं, तो पहाड़ों

की शक्ति हमें मिलती है। ये हमारे गुरु बनते हैं।"

प्रणम्य हैं हमारे ये गिरिदेव गुरुदेव।

नदी का निर्मल तट।

वह कौन कम प्रेरक है?

बाबा उस दिन कह उठे!

"पहाड़ों की सन्निधि में और नदियों के किनारे ज्ञानी पुरुषों का जन्म होता है, ऐसा वेद में वचन आया है। यह सामने नदी बह रही है, यह कंजूस नहीं है। सतत् उपकार करती है और दूसरों के लिए बहती रहती है। इसे अपने जीवन में कोई प्रयोजन नहीं है, सिवाय इसके कि दूसरों की सेवा करना। ये वृक्ष खड़े हैं। इनके जीवन में इनका क्या है? जो छाया चाहता है, उसे छाया देते हैं। पत्ती माँगता है, तो उसे पत्ती तोड़ने देते हैं। कोई फूल चाहता है, तो उसे फूल देते हैं। फल चाहता है तो उसे फल खूटने देते हैं। घर बनाने के लिए कोई वृक्ष को काटना चाहता है तो काटने वाला भी उसकी छाया में बैठकर उसे काटता है। परन्तु वह इतना परोपकारी है कि कोई शिकायत नहीं करता। ऐसे ही ये पहाड़ हैं। ये सदा देते हैं, ये सारा पानी नीचे गिरा देते हैं। इस तरह से ईश्वर की सृष्टि में केवल परोपकार की ही भावना भरी है। सारी की सारी सृष्टि परोपकारी है।

प्रार्थना-प्रवचन के उपरान्त बाबा उठे और उस छोटी नदी में, जिसमें घुटनों से भी कम पानी था, घूमने लगे। कभी पूरब से पश्चिम को जाते, कभी उत्तर से दक्षिण। और मैं भाव-विभोर-सा बैठा सूर्यास्त का पावन दृश्य देखता रहा—चुप! शान्त!! एकाकी!!!

नदी का वह रेतीला कगार, अस्ताचल-गामी भगवान् भास्कर की वह अद्भुत रूप-माधुरी, शीतल मन्द पवन के वे झकोरे! सामने ऊँची पर्वतमाला, वृक्षों की मनोहर अवली! भावों में डूबा बैठा रहा घण्टों। सन्ध्या धीरे-धीरे खिसक चली। अन्धकार घनीभूत हो उठा। जगह-जगह दूर दो-चार दीपक टिमटिमाने लगे। उस निभृत स्थल से मैं तभी उठा, जब दूर से घण्टी की आवाज कानों के पर्दे से टकरायी।

चलूं, भोजन की घण्टी बज गयी!

गीता ने उपनिषद् से ज्ञान, योगशास्त्र से समत्वबुद्धि, भक्ति-मार्ग से भक्ति, वेद से ध्यान, सांख्य-न्यायशास्त्र से सृष्टि-विषयक विज्ञान स्मृतिकारों से आचार भी लिया है।

—श्रुतिसार

'सिद्धयोग' हिन्दी मासिक (पत्रिका) का विवरण

फार्म नं० ४

१.	प्रकाशन का स्थान—	श्री सिद्धगुफा सवांई, आगरा (उ० प्र०)
२.	प्रकाशन का अवधिक्रम—	मासिक
३.	मुद्रक का नाम—	देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
	राष्ट्रीयता—	भारतीय
	पता—	२६/४६ कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा
४.	प्रकाशक का नाम—	देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
	राष्ट्रीयता—	भारतीय
	पता—	२६/४६ 'दिव्य कुटीर' बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा
५.	सम्पादक का नाम—	देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
	राष्ट्रीयता—	भारतीय
	पता—	२६/४६ 'दिव्य कुटीर' बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा
६.	स्वत्वाधिकारी—	ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (आगरा)

मैं देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' यह घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है।

देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
प्रकाशक
कृते श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सवांई, आगरा

'सिद्धयोग'-प्रकाशन में विलम्ब क्यों ?

'सिद्धयोग' हिन्दी मासिक का जनवरी और फरवरी सन् १९९२ के अङ्क १० और ११ पाठकों, ग्राहकों, अनुग्राहकों की सेवा में विलम्ब से पहुँचापाने का हमें खेद है। विलम्ब से डिस्पैच किये जाने का कारण यह रहा कि 'सिद्धयोग' का, सन् १९९१ के लिए जो रजि० नं० L. AG. 008 प्राप्त था, और जिसका नवीनीकरण प्रतिवर्ष सहज रूप में स्वीकृत हो जाया करता था, सन् १९९२ के लिए उसके नवीनीकरण की स्वीकृति एस० एस० पोस्ट आफिसेज आगरा कार्यालय से निर्धारित समय के भीतर लिखित आवेदन प्रेषित किए जाने पर भी आज तक प्राप्त नहीं हो पायी है। पर्याप्त प्रतीक्षा के उपरान्त स्मरण-पत्र भेजने तथा स्वयं कार्यालय में आकर प्रार्थना करने पर भी जब नवीनीकरण का आदेश नहीं मिल पाया तब जनवरी का अङ्क साधारण डाक-नियमों के अन्तर्गत ही हमें अतिरिक्त पोस्टेज लगाकर भेजना पड़ा। फरवरी का यह अङ्क भी तैयार हो चुकने तक भी पोस्टल रजिस्ट्रेशन के नवीनीकरण का अनुज्ञापत्र हमें प्राप्त नहीं हुआ है। नवीनीकरण का यह आदेश हमें क्यों नहीं मिल पा रहा है इसका कोई लिखित कारण भी प्राप्त नहीं हुआ है। विलम्ब की इस विवशता के लिए हम पाठकों से सादर क्षमा प्रार्थी हैं। साथ ही सक्षम अधिकारियों से हम प्रार्थना करेंगे कि पोस्टल रजिस्ट्रेशन के नवीनीकरण में यह विलम्ब बिना किसी कानूनी औचित्य के किन कारणों से हुआ है इसकी छानबीन करने की भी कृपा करें।

प्रकाशन स्थल :-
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र,
सवांई (आगरा)

देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक
निवास-२६/४६ बसईकलाँ, ताजगंज, आगरा

SIDDHA

प्रेषक कार्यालय

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

श्री.....

.....

.....

.....

स्वभाव क्या ?

प्रत्येक मनुष्य को जन्म के साथ ही देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि प्राप्त होती है तथा उसमें सत्व, रज, तमोगुण भी होते हैं। इसमें इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जिस प्रकार की होंगी और उनमें जिस प्रमाण में सत्व, रज, तमोगुण का प्रभाव होगा उसी प्रकार उसका व्यवहार चलता है। पूर्वजन्म में जो पाप-पुण्य-कर्म किये होंगे वे देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि और सत्व, रज, तमोगुणों के प्रमाण पर अवलम्बित होते हैं। इन सबके जो संस्कार मनुष्य पर होते हैं तदनुसार व्यवहार करना ही माया के अनुसार व्यवहार करना कहलाता है। इस प्रकार व्यवहार करने को मनुष्य की जो वृत्ति है वही 'स्वभाव' कहलाती है।

—योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्रकाशक एवं मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' द्वारा कमलेश प्रिन्टिंग प्रेस, बसई खरा, आगरा